ईशावास्योपनिषद्

अथवा

(यजुर्वेदस्य चत्वारिंशोऽध्यायः)

[महर्षिदयानन्दकृतभाष्ययुतः शाङ्करादि-भाष्य-समीक्षया च संवलितः]

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव ।
यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआसु॑व ॥१॥ य० ३०।३॥

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । अनुष्टुप् छन्दः । धैवतः ॥

अथ मनुष्याः परमात्मानं विज्ञाय किं कुर्युरित्याह ॥

अब चालीसवें अध्याय का आरम्भ है । मनुष्य परमात्मा को जानकर क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

ई॒शा वा॒स्य॒मि॒दꣳ सर्वं॒ यत्किञ्च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त् ।
तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒ मा गृ॑धः॒ कस्य॑ स्वि॒द्धन॑म् ॥१॥

***पदार्थः*—(ईशा)** ईश्वरेण=सकलैश्वर्य्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना **(वास्यम्)** आच्छादयितुं योग्यं=सर्वतोऽभिव्याप्यम् **(इदम्)** प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तम् **(सर्वम्)** अखिलम् **(यत्) किम्) (च) (जगत्याम्)** गम्यमानायां सृष्टौ **(जगत्)** यद् गच्छति तत् । **(तेन) (त्यक्तेन)** वर्जितेन तच्चित्तरहितेन **(भुञ्जीथाः)** भोगमनुभवेः **(मा)** निषेधे **(गृधः)** अभिकाङ्क्षीः **(कस्य) (स्वित्)** कस्यापि स्विदिति प्रश्ने वा **(धनम्)** वस्तुमात्रम् ॥१॥

***अन्वयः*—**हे मनुष्य ! त्वं यदिदं सर्वं जगत्यां तद् जगदीशाऽऽ-वास्यमस्ति तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः किञ्च कस्य स्विद्धनं मा गृधः॥१॥

***सपदार्थान्वयः*— हे मनुष्य ! त्वं यदिदं** प्रकृत्यादि-पृथिव्यन्तं **सर्वम्** अखिलं **जगत्यां** गम्यमानायां सृष्टौ जगत् यद् गच्छति तत् **ईशा** ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन

***भाषार्थ*—**हे मनुष्य ! तू (यत्) जो (इदम्) प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त (सर्वम्) सब (जगत्याम्) चलायमान सृष्टि में (जगत्) जड़ चेतन जगत् है, वह

सर्वशक्तिमता परमात्मना **वास्यम्** आच्छादयितुं योग्यं=सर्वतोऽभिव्याप्यम् **अस्ति; तेन त्यक्तेन** वर्जितेन तच्चित्तरहितेन **भुञ्जीथाः** भोगमनुभवेः।

(ईशा) ईश्वर अर्थात् सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के द्वारा (वास्यम्) आच्छादित अर्थात् सब ओर से अभिव्याप्त किया हुआ है । (तेन) इसलिए (त्यक्तेन) त्यागपूर्वक अर्थात् जगत् से चित्त को हटा के (भुञ्जीथाः) भोगों का उपभोग कर ।

किञ्च कस्यस्वित् कस्यापि धनं वस्तुमात्रं मा न गृधः= अभिकाङ्क्षीः॥४०।१॥

(किं च) और (कस्य-स्वित्) यह धन किसका है अर्थात् किसी का नहीं; अतः किसी के भी (धनम्) धन अर्थात् वस्तुमात्र की (मा) मत (गृधः) अभिलाषा कर ॥४।१॥

भावार्थः—ये मनुष्या ईश्वराद् बिभ्यत्ययमस्मान् सर्वदा सर्वतः पश्यति, जगदिदमीश्वरेण व्याप्तं, सर्वत्रेश्वरोऽस्तीति व्यापक-मन्तर्यामिणं निश्चित्य, कदाचिदप्य-न्यायाचरणेन कस्यापि किञ्चिदपि द्रव्यं ग्रहीतुं नेच्छेयुस्ते; धार्मिका भूत्वाऽत्र परत्राऽभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देयुः ॥४०।१॥

भावार्थः—जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हम को सब काल में सब ओर से देखता है; यह जगत् ईश्वर से व्याप्त अर्थात् सब स्थानों में ईश्वर विद्यमान है । इस प्रकार उस व्यापक अन्तर्यामी को जानकर कभी भी अन्याय-आचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण करना नहीं चाहते; वे इस त्याग से धार्मिक होकर इस लोक में अभ्युदय और परलोक में निःश्रेयस रूप फलों को भोग कर सदा आनन्द में रहते हैं ॥४०।१॥

भा० पदार्थः—ईशा=ईश्वरेण । वास्यम्=व्याप्तम् । कस्यस्वित्=कस्यापि । धनम्=किञ्चिदपि द्रव्यम् । मा=न । गृधः=कदाचिदप्यन्यायाचरणेन ग्रहीतुमिच्छ । भुञ्जीथाः=अत्र परत्राऽभ्युदयनिःश्रेयसे फले प्राप्य सदाऽऽनन्देः॥

***भाष्यसार*—मनुष्य परमात्मा को जानकर क्या करें**—इस

चलायमान सृष्टि से प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त जो जड़-चेतन जगत् है, वह सब सकल ऐश्वर्य से सम्पन्न, सर्वशक्तिमान् परमात्मा से आच्छादित अर्थात् सब ओर से व्याप्त है । ईश्वर सर्वत्र है । वह सर्वव्यापक और अन्तर्यामी है । वह सर्वदा सब ओर से मनुष्यों को देख रहा है । ऐसा निश्चित जानकर परमात्मा से डरते रहें । त्यागपूर्वक पदार्थों का उपभोग करें । धार्मिक होकर इस लोक में अभ्युदय फल और परलोक में निःश्रेयस फल को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहें । यह धन किसका है ? अर्थात् किसी का नहीं । यह सब धन परमात्मा का है । उसी ने कर्मानुसार सब को दिया है । अतः कभी भी अन्याय से किसी के द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा न करें ।

अन्यत्र व्याख्यात—हे मनुष्य ! जो कुछ इस संसार में जगत् है, उस सब में व्याप्त होकर नियन्ता है, वह ईश्वर कहाता है । उससे डरकर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर । अन्याय के त्याग और न्यायाचरण रूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द भोग।।४०।१।।

(सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के विषय के सम्बन्ध में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मण्यविनियुक्ताः । तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात् । याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः ।

अर्थात् 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग नहीं है, क्योंकि ये कर्मशेष से भिन्न आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले हैं । और आत्मा का यथार्थस्वरूप है—शुद्धत्व, निष्पापत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व और सर्वगतत्वादि है, जो आगे कहा जायेगा, इसका कर्म से विरोध है, अतः इन मन्त्रों का कर्म में विनियोग न होना ही ठीक है ।

समीक्षा—'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन है, अतः कर्म में इनका विनियोग नहीं है, श्री शङ्कराचार्य जी का कथन सत्य नहीं है । क्योंकि वेदों में जहां-जहां भी आत्मा का वर्णन है, उन मन्त्रों का भी कर्म में विनियोग नहीं होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं है, जैसे यजुर्वेद के ३२वें अध्याय में भी आत्मा का वर्णन है और उसका विनियोग 'सर्वमेधयज्ञ' में किया गया है । अतः शङ्कराचार्य जी का कथन

अनैकान्तिक है । और उनका यह कथन भी सत्य नहीं है कि 'ईशावास्यम्' इत्यादि मन्त्रों में आत्मा के स्वरूप का ही वर्णन है । स्वयं श्री शङ्कर स्वामी ने 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' मन्त्र के अर्थ में लिखा है कि अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करें ।[१] और उनका यह कथन भी मिथ्या है कि आत्मा के वर्णन का कर्म से विरोध है । आत्मा के सत्य स्वरूप को जानकर ही जीवात्मा श्रेष्ठकर्मों में प्रवृत्त होता है और दुष्कर्मों से बच जाता है । परमात्मा के निष्पापादि गुणों की स्तुति का प्रयोजन भी यही है, कि परमात्मा की भांति जीवात्मा अपने को निष्पाप बनाने का पूर्ण यत्न करे और शुद्धस्वरूप परमात्मा की भांति शुद्ध बन सके । अतः आत्मा के स्वरूप ज्ञान तथा कर्म में परस्पर कोई भी विरोध नहीं है अपितु परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । ज्ञान के बाद ही जीवात्मा शुभ कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है । इसी उपनिषत् के 'अग्ने नय सुपथा' मन्त्र का यज्ञकर्म में तथा 'वायुरनिलममृतमथेदम्०' मन्त्र का अन्त्येष्टि कर्म में विनियोग होने से शङ्कर स्वामी का इन मन्त्रों का कर्म में विनियोग न मानना काल्पनिक ही है ।

क–"न ह्येवं लक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्त्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात् ।" (शाङ्करभा०)

अर्थात् आत्मा का ऐसे लक्षणों वाला यथार्थ स्वरूप–उत्पाद्य, विकार्य, आप्य, संस्कार्य, कर्त्ता और भोक्ता रूप नहीं है, जिससे कि वह कर्म का शेष हो सके ।

ख–''तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपाप-विद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।" (शाङ्करभाष्यम्)

अर्थात् इसलिए आत्मा के सामान्य लोगों की बुद्धि से सिद्ध होने वाले अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा अशुद्धत्व और पापमयत्व को लेकर ही कर्मों का विधान किया गया है ।

ग–तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेन आत्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्त्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादि विज्ञानमुत्पादयन्ति ।' (शाङ्करभाष्यम्)

अर्थात् इस कारण से ये मन्त्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश

१. 'कुर्वन्नेव इह निवर्त्तयन्नेव कर्माणि=अग्निहोत्रादीनि जिजीविषेत् ।' (शाङ्करभाष्यम्)

करके आत्मसम्बन्धी स्वाभाविक अज्ञान को निवृत्त करते हुए संसार के शोक मोहादि धर्मों के विच्छेद के साधनस्वरूप आत्मैकत्वादि विज्ञान को ही उत्पन्न करते हैं ।

समीक्षा—क—आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा । दोनों ही अनुत्पाद्य, चेतन व शाश्वत हैं किन्तु परमात्मा एक, सर्वज्ञ, सर्वत्र व्यापक, निराकार, सर्वशक्तिमान् आदि गुणयुक्त है और जीवात्मा प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, अल्पसामर्थ्य वाला और कर्म करने में स्वतन्त्र होता हुआ भी फल भोगने में परतन्त्र है । इस निश्चित सिद्धान्त को स्वयं शङ्कराचार्य जी को भी मुण्डकोपनिषत् के 'द्वा सुपर्णा सयुजा०' (मु०—३।१।१) मन्त्र की व्याख्या में स्वीकार करना पड़ा । अन्यत्र भी ऐसे ही अर्थ करने पड़े । किन्तु कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि किस आत्मा के लक्षणों का प्रतिषेध शङ्कर स्वामी कर रहे हैं ? यह स्पष्ट नहीं किया । क्या परमात्मा सृष्टि का रचयिता होने से कर्त्ता नहीं है ? क्या जीवात्मा कर्त्ता, भोक्ता तथा अनेकत्वादि लक्षण वाला नहीं है ? यदि शङ्कराचार्य जी का अभिप्राय परमात्मा से ही है, क्योंकि वे जीवात्मा की सत्ता पृथक् नहीं मानते तो भी कर्तृत्व-लक्षण का तो प्रतिषेध नहीं करना चाहिए । क्योंकि परमात्मा इस समस्त जगत् का कर्त्ता है ।

ख—शङ्कराचार्य जी की यह मान्यता भी सत्य नहीं है कि सामान्य बुद्धि से सिद्ध आत्मा के अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि को लेकर ही कर्मों का विधान किया है । सामान्य-बुद्धि वालों की बात छोड़ दें तो भी परमात्मा से भिन्न जीवात्मा की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है । अन्यथा 'द्वा सुपर्णा सयुजा०' जैसे मन्त्रों का अर्थ कैसे भी सङ्गत नहीं हो सकता। क्या मन्त्रों में भी सामान्य-बुद्धियों के लिए ही वर्णन किया है ? क्या 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:' (कठो०) मन्त्र में आत्मा को भोक्ता, 'चेतनश्चेतनानाम्०' (कठोप०) जीवात्मा का अनेकत्व, 'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति०' (कठोप०) में परमात्मा का जीवात्मा द्वारा हृदयाकाश में साक्षात्कार, और 'शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यम्' (मुण्डको०) में जीवात्मा को बाण और परब्रह्म को लक्ष्य कहकर भी उपासक व उपास्य में भेद नहीं माना? जिस आत्मा में अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि को मानकर वेदों में कर्मों का विधान किया है, क्या वह कल्पित ही है ? क्या आपके कथनानुसार परमात्मा के स्वरूप का ही प्रकाश करने वाले मन्त्र 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' में कर्म करते हुए सौ

वर्षों तक जीने का उपदेश परमात्मा के लिए है ? कर्म से आत्मा के स्वरूप को विरुद्ध मानकर क्या यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस मन्त्र में अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने का उपदेश किस के लिए है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान यदि खोजा जाए तो श्री शङ्कर स्वामी का अद्वैतवाद स्वतः ही धराशायी हो जाता है ।

ग—इन मन्त्रों से आत्मा के स्वाभाविक अज्ञान की निवृत्ति मानना भी एक असङ्गत-कल्पना है । अज्ञान यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण है तो वह कभी भी दूर नहीं हो सकता । क्योंकि स्वाभाविक गुण किसी भी वस्तु से कदापि पृथक् नहीं हो सकता । जैसे जल का स्वाभाविक गुण शीतलता है । जल को अग्नि के संयोग से गर्म कितना भी किया जाए, किन्तु कालान्तर में वह फिर शीतल ही हो जाता है । और यह अज्ञान क्या परमात्मा का स्वाभाविक गुण है ? क्योंकि जीवात्मा की सत्ता को तो वेदान्ती स्वीकार नहीं करते । धन्य है, ऐसे अद्वैतमत तथा उसके संस्थापकों को, जो उपनिषदों में वर्णित सर्वज्ञ परब्रह्म को भी अज्ञानी बनाने का दुस्साहस करने लगे हैं और अपनी कल्पित मान्यता के कारण उन्हें ऐसा करना पड़ा है अन्यथा ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की सत्ता स्वीकार करने पर उसके अज्ञान को दूर करना ही मन्त्रों का लक्ष्य है और वह भी स्वाभाविक अज्ञान नहीं होता, अपितु नैमित्तिक होता है ।

ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र की व्याख्या में शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

क—सब का ईशन=शासन करने वाला परमेश्वर परमात्मा है । वही सब जीवों का आत्मा होकर अन्तर्यामी रूप से सब का ईशन करता है । उस अपने स्वरूपभूत आत्मा ईश से सब (जगत्) वास्य=आच्छादन करने योग्य है ।[१]

ख—यह सब जो कुछ जगती अर्थात् पृथिवी में जगत् (स्थावर-जङ्गमप्राणिवर्ग) है, वह सब अपने आत्मा ईश्वर से अन्तर्यामि रूप से यह सब कुछ मैं ही हूं, ऐसा जानकर अपने परमार्थसत्यस्वरूप परमात्मा से यह सम्पूर्ण मिथ्याभूत चराचर आच्छादन करने योग्य है ।[२]

१—ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य । स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तू-नामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणात्मनेशावास्यमाच्छादनीयम् ।

२—यत् किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्, तत्सर्वं स्वेनात्मना ईशेन प्रत्यगात्मतयाहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना ।

समीक्षा—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में बहुत ही स्पष्ट कहा गया है कि पसरमात्मा सब का शासन करने वाला है । और वह स्थावर-जङ्गम दोनों प्रकार के जगत् को व्यापक होने से आच्छादन कर रहा है । इससे स्पष्ट है कि शासन करने वाला तथा जिस जगत् पर वह शासन कर रहा है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं । यदि परमात्मा से भिन्न किसी वस्तु की परमार्थसत्ता ही नहीं है तो परमात्मा किस का आच्छादन करता है ? और श्री शङ्कर स्वामी ने दोनों बातें यहां ऐसी लिखी हैं, जिनसे उनका अद्वैतवाद स्वतः ही खण्डित हो जाता है । एक तो यह कि परमात्मा जीवों का अन्तर्यामी है । यहां जीवात्मा की परमात्मा से भिन्न सत्ता स्वयं स्वीकार कर ली है । और स्थावर-जङ्गम या चर-अचर ये जगत् के दो भेद भी स्वीकार किए हैं । जिन्हें जड़-चेतन रूप से भी कहा जा सकता है । इससे भी परमात्मा से भिन्न चेतन जीवात्मा तथा अचेतन जड़ जगत् की सत्ता को श्री शङ्कर स्वामी ने स्वयं स्वीकार कर लिया अन्यथा चराचर जगत् के दो भेद बन ही नहीं सकते । अतः स्पष्ट ही परमात्मा, भोक्ता-जीवात्मा तथा परमेश्वर से आच्छादित अचेतन प्रकृति की सत्ता को स्वीकार करने से त्रैतवाद की सिद्धि हो जाती है ।

इस मन्त्र की व्याख्या में "अन्तर्यामी रूप से यह सब कुछ मैं ही हूं और 'यह सम्पूर्ण चराचर जगत् मिथ्या है' इत्यादि बातें मूल मन्त्र में न होने से स्वयं कल्पित तथा मिथ्या हैं ।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या में शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"इस प्रकार जो ईश्वर ही चराचर जगत् का आत्मा है, ऐसी भावना से युक्त है, उसके पुत्रादि तीनों एषणाओं के त्याग में ही अधि कार है, कर्म में नहीं । उसके त्याग से आत्मा का पालन कर । त्यागा हुआ अथवा मरा हुआ पुत्र या सेवक, अपने सम्बन्ध का अभाव हो जाने के कारण अपना पालन नहीं करता, अतः त्याग से भोग=पालन कर ।"[१]

समीक्षा—मन्त्र में कहा है—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः=अर्थात् त्याग भाव से सांसारिक पदार्थों का भोग करो । कर्म का प्रतिषेध नहीं किया।

१—एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वा आत्मसम्बन्धिताया अभावात् आत्मानं पालयति, अतस्त्यागेन इत्ययमेव वेदार्थः—भुञ्जीथाः=पालयेथाः ।

किन्तु शाङ्कर-भाष्य में कर्म का निषेध करके न केवल व्याख्या ही त्रुटिपूर्ण की है, प्रत्युत 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' मन्त्र के विरुद्ध भी की है। और जब परमात्मा से भिन्न कोई सत्ता ही श्री शङ्कराचार्य जी नहीं मानते तो यह आदेश किसे दिया जा रहा है ? क्या परमात्मा परमात्मा को ही आदेश दे रहा है ? और 'भुञ्जीथाः' क्रिया का 'पालन कर' अर्थ भी यहां सङ्गत नहीं है । 'आत्मा का पालन कर' इस अर्थ की यहां क्या सङ्गति? और जो उदाहरण दिया है, उसकी भी कोई सङ्गति होनी चाहिए। त्यागा हुआ पुत्र या सेवक जैसे सम्बन्ध न रहने से पालनादि क्रियाएं नहीं करता, वैसे ही पुत्रादि एषणाओं के त्याग से आत्मा का पालन करने की बात उचित नहीं है । क्या त्याग से पूर्व ये एषणाएं पालन करती थीं, जो उनके त्याग के बाद पालन की आशा के अभाव में पालन करने का आदेश दिया है ? और आत्मा नित्य अच्छेद्यादि गुणों वाला है, उसका क्या पालन करना ? और यदि भाष्यकार का भाव यह हो कि इन एषणाओं से बचने के लिए कहा गया है तो भी अर्थ की सङ्गति तभी हो सकती है जबकि 'भुञ्जीथाः' क्रिया का भोगना अर्थ किया जाए । क्योंकि भोग करता हुआ मनुष्य ही एषणाओं के जाल में फंस सकता है, अतः उसे बचने की शिक्षा देना भी उचित है ।

व्याकरण के अनुसार भी श्री शङ्कराचार्यकृत 'भुञ्जीथाः' की व्याख्या 'पालयेथाः' अशुद्ध है । यह 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' धातु का रूप है । यद्यपि 'भुज' धातु के पालन करना तथा अभ्यवहार=खाना दोनों अर्थ हैं । किन्तु 'भुजोऽनवने' (अ० १।३।६६) इस पाणिनीय सूत्र में पालन से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है । पालन अर्थ में परस्मैपद होता है । मन्त्र में आत्मनेपद का रूप है, अतः उसका अर्थ 'पालन करना' व्याकरणनियम से भी अशुद्ध है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । भुरिगनुष्टुप् । धैवतः ।।

अथ वैदिककर्मणः प्राधान्यमुच्यते ।

अब वैदिक कर्म की प्रधानता का उपदेश किया जाता है ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।४०।२।।

पदार्थः—**(कुर्वन्) (एव) (इह)** अस्मिन् संसारे **(कर्माणि)**

धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि **(जिजीविषेत्)** जीवितुमिच्छेत् **(शतम्)** **(समाः)** संवत्सरान् **(एवम्)** अमुना प्रकारेण **(त्वयि) (न)** निषेधे **(अन्यथा) (इतः)** अस्मात् प्रकारात् **(अस्ति)** भवति **(न)** निषेधे **(कर्म)** अधर्म्यमवैदिकं मनोऽर्थसम्बन्धिकर्म **(लिप्यते) (नरे)** नयन-कर्त्तरि ।।२।।

***अन्वयः*—**मनुष्य इह कर्माणि कुर्वन्नेव शतं समा जिजीविषेदेवं धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने त्वयि नरे न कर्म लिप्यते, इतोऽन्यथा नास्ति लेपाभावः ।।२।।

***सपदार्थान्वयः*—मनुष्य इह** अस्मिन् संसारे **कर्माणि** धर्म्याणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि **कुर्वन्नेव शतं समाः** संवत्सरान् **जिजीविषेत्** जीवितुमिच्छेत् ।

***भाषार्थ*—**मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त वेदोक्त, निष्काम-कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे ।

एवम् अमुना प्रकारेण **धर्म्ये कर्मणि प्रवर्त्तमाने त्वयि नरे** नयनकर्त्तरि **न—कर्म** अधर्म्यमवैदिकं मनोरथसम्बन्धिकर्म **लिप्यते** ।

(एवम्) इस प्रकार से धर्मयुक्त कर्म में लगे हुए (त्वयि) तुझ (नरे) व्यवहारों के नायक नर में (कर्म) अपने मनोरथ से किए अधर्म युक्त, अवैदिक कर्म का (न लिप्यते) लेप नहीं रहता है ।

इतः अस्मात् प्रकाराद् **अन्यथा नास्ति** न भवति **लेपाभावः**।।४०।२।।

(इतः) इस वेदोक्त प्रकार से भिन्न (अन्यथा) अन्य प्रकार से कर्म के लेप का अभाव (न) नहीं (अस्ति) है । ४०।२।।

***भावार्थः*—**मनुष्या आलस्यं विहाय सर्वस्य द्रष्टारं न्यायाधीशं परमात्मानं कर्त्तुमर्हां तदाऽऽज्ञां च मत्वा शुभानि कर्माणि कुर्वन्तोऽशुभानि त्यजन्तो ब्रह्मचर्येण विद्यासुशिक्षे प्राप्योपस्थेन्द्रियनिग्रहेण वीर्यमुन्नीया-ऽल्पमृत्युं घ्नन्तु, युक्ताऽऽहारविहारेण

***भावार्थ*—**मनुष्य लोग आलस्य को छोड़ कर सबके द्रष्टा न्यायाधीश परमात्मा को, और आचरण करने योग्य उसकी आज्ञा को मानकर शुभ-कर्मों को करते हुए और अशुभ कर्मों को छोड़ते हुए ब्रह्मचर्य के द्वारा विद्या और

च शतवार्षिकमायुः प्राप्नुवन्तु । उत्तम-शिक्षा को प्राप्त करके उपस्थ-इन्द्रिय के संयम से वीर्य को बढ़ाकर अल्पायु में मृत्यु को हटावें, और युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करें ।

यथा यथा मनुष्याः सुकर्मसु चेष्टन्ते, तथा तथैव पापकर्मतो बुद्धि-र्निवर्त्तते । विद्याऽऽयुः सुशीलता च वर्द्धते ॥४०।२॥

जैसे-जैसे मनुष्य श्रेष्ठ-कर्मों की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे ही पाप-कर्मों से उनकी बुद्धि हटने लगती है । जिसका फल यह होता है कि—विद्या, आयु और सुशीलता आदि गुणों की वृद्धि होती है ॥४०।२॥

भा० पदार्थः—शतं समाः=शतवार्षिकमायुः । कर्म=पापकर्म । न लिप्यते=निवर्त्तते ॥

भाष्यसार—वैदिक कर्म की प्रधानता—मनुष्य इस संसार में वैदिक निष्काम कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे । तात्पर्य यह है कि मनुष्य आलस्य को छोड़कर, सब के द्रष्टा, न्यायाधीश, परमात्मा को तथा आचरण करने योग्य उसकी आज्ञा को मानकर शुभ कर्म करता हुआ और अशुभ कर्मों को छोड़ता हुआ, ब्रह्मचर्य से विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त करके, उपस्थेन्द्रिय के संयम से वीर्य को बढ़ाकर अल्पायु का विनाश करे । युक्त आहार-विहार से सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करे ।

इस प्रकार से वैदिक (धर्मयुक्त) कर्म में प्रवृत्त होने से मनुष्य अपने मनोरथ से किये अवैदिक (अधर्मयुक्त) कर्म में लिप्त नहीं होता । जैसे-जैसे मनुष्य वैदिक कर्मों में प्रवृत्त होता है वैसे-वैसे पापकर्म से उसकी बुद्धि निवृत्त होती जाती है । विद्या, आयु और सुशीलता बढ़ती है । इस प्रकार को छोड़कर कर्म में लेपाभाव का अन्य कोई प्रकार नहीं है ॥४०।२॥

अन्यत्र व्याख्यात—जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा । जैसे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।" (य० ४०।२) परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो ॥४०।२॥

(सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)

समीक्षा–'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' मन्त्र की भूमिका में शङ्कराचार्य जी लिखते हैं–

'अथ इतरस्यानात्मज्ञतया आत्मग्रहणाय अशक्तस्येदमुपदिशति ।'

अर्थात् अब जो आत्मतत्त्व का ग्रहण करने में असमर्थ दूसरा अनात्म पुरुष है, उसके लिए इस दूसरे मन्त्र का उपदेश करते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि श्री शङ्कराचार्य जी के मत में इसमें आत्मस्वरूप का वर्णन नहीं है । इसलिए इस मन्त्र की व्याख्या अनात्मज्ञ पुरुष के लिए की । किन्तु जब यह मन्त्र भी उपनिषत् का है और उपनिषदों के विषय में प्रारम्भ में ही श्री शङ्कराचार्य जी ने लिखा है–

'सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैव उपक्षयात् ।'

अर्थात् समस्त उपनिषदों की परिसमाप्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करने में ही होती है । क्या इस मन्त्र को उपनिषत् का भाग न माना जाए ? अथवा आपकी मान्यता को, जिसमें कर्म तथा आत्मस्वरूप में विरोध माना है, मिथ्या समझा जाए ? आपका यह लेख भी वेद से विरुद्ध है कि–"आत्मा के सामान्य लोगों की बुद्धि से सिद्ध होने वाले अनेकत्व, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व तथा अशुद्धत्व और पापमयत्व को लेकर ही (अग्निहोत्रादि) कर्मों का विधान किया गया है ।"[१]

वेद का आदेश तो यह है कि जब तक जीवे, तब तक अग्निहोत्रादि कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे । मन्त्र में कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं है कि यह अनात्मज्ञ पुरुष के लिए उपदेश है । और शङ्कराचार्य जी ने स्वयं मनुष्य की बड़ी से बड़ी आयु १०० वर्ष मानी है । और मन्त्र की व्याख्या में अग्निहोत्रादि कर्म करता हुआ,[२] ऐसा ही अर्थ किया है । क्या यह उपदेश अनात्मज्ञ पुरुष के लिए हो सकता है ? जबकि मन्त्र का देवता 'आत्मा' है, जो मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है । जिसके अनुसार आत्मा (जीवात्मा) के लिए जीवन भर वैदिक कर्मों को करने के लिए उपदेश दिया गया है । किन्तु आप इस प्रकरण सङ्गत अर्थ को कैसे स्वीकार करते?

१–"तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्त्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।" (ईशोप० शा० भा०)

२–"कुर्वन्नेव इह निवर्त्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि जिजीविषेज् जीवितुमिच्छेत् शतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् ।" (ईशोप० शा० भा०)

आपने जीवब्रह्म की एकता की मिथ्या मान्यता को मानकर और जीवात्मा की पृथक् सत्ता न मानकर वेदों का अनर्थ कर दिया है । सत्य से विमुख व्यक्ति कहां-कहां और कैसे-कैसे ठोकरें खाता है, इसका यह मन्त्र एक नमूना है । आपकी इस गलत शिक्षा के कारण नवीन-वेदान्ती साधु स्वयम् अज्ञानग्रस्त होने से दूसरों को भी अज्ञानी ही बना रहे हैं । और आत्मज्ञान के लिए कर्म का विरोध मानकर निष्क्रिय बने हुए हैं । महर्षि दयानन्द की मन्त्रार्थभूमिका देखिए—'अथ वैदिककर्मणः प्राधान्यमुच्यते' अर्थात् अब वैदिक कर्मों की प्रधानता का उपदेश किया जाता है । मन्त्र में भी कहा है 'न कर्म-लिप्यते नरे' अर्थात् श्रेष्ठ कार्यों को करते हुए अधर्मयुक्त कर्मों का लेप नहीं रहता । अतः शङ्कराचार्य जी की मन्त्रार्थभूमिका प्रकरणविरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती ।

श्री शङ्कराचार्य जी की यह मान्यता भी अवैदिक तथा मिथ्या है कि—'मनुष्य की बड़ी से बड़ी आयु १०० वर्ष है ।'[१] (३६।२४) के 'तच्चक्षुर्देव०' मन्त्र में 'भूयश्च शरदः शतात्' कहकर सौ वर्षों से अधिक देखने-सुनने, जीने तथा उपदेश करने की प्रार्थना की गई है । और 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्' (यजु० ३।६२) मन्त्र में पुरुष की आयु ४०० वर्षों की बताई है । महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने अपने समय में मनुष्यों की आयु में कमी देखकर ही लिखा है—

किं पुनरद्यत्वे, चिरं जीवति, वर्षशतं जीवति । (महाभाष्य-नवा०)

अर्थात् आजकल क्या है, अधिक जीता है तो सौ वर्ष जीता है । और प्रत्यक्ष के अनुसार भी श्री शङ्कराचार्य जी की मान्यता मिथ्या है । क्योंकि सौ वर्षों से अधिक आयु के व्यक्ति अब भी विद्यमान हैं । छान्दोग्य के ऐतरेय महिदास की ११६ वर्ष की आयु लिखी है—

"स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् ।" (खं० १६।७)

इस मन्त्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य जी ने 'ज्ञान, कर्म, समुच्चय' का खण्डन करने के लिए स्वयं शङ्का की है—"यह कैसे जाना गया कि पूर्व मन्त्र से [संन्यासी की ज्ञाननिष्ठा का तथा द्वितीय मन्त्र से संन्यास में असमर्थ पुरुष की कर्मनिष्ठा का वर्णन किया गया है ।] इसका उत्तर देते हैं—'क्या तुम्हें स्मरण नहीं कि जैसा पहले कह चुके हैं—ज्ञान और

१—'जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान् । तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम् ।" (ईशोप० शा० भा०)

कर्म का विरोध पर्वत के समान अविचल है ।"[१]

मन्त्र में ज्ञान-कर्म के विरोध की कोई बात नहीं कही है, और नहीं यह बात कही है कि पूर्व मन्त्र में संन्यासी के लिए ज्ञान का और दूसरे में अनात्मज्ञ के लिए कर्म का उपदेश है । मन्त्र में मनुष्यमात्र के लिए उपदेश किया गया है कि मनुष्य परमात्मा को सर्वत्र व्यापक समझकर लोभादि दुर्गुणों से बचकर अनासक्त होकर सांसारिक सुखों का भोग करें और दूसरे मन्त्र में आजीवन यज्ञादि शुभकर्म करने का उपदेश है ।

ज्ञान और कर्म में पर्वत के समान अटल विरोध कहना महान् आश्चर्य की बात है । विना ज्ञान के कर्म अन्धे के समान और विना कर्म के ज्ञान पङ्गुवत् (लंगड़े के तुल्य) होता है । इन दोनों के समुच्चय के विना लौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है । स्वयम् इसी अध्याय के निम्न मन्त्र में ज्ञान-कर्म का समुच्चय दिखाया गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।। (यजु० ४०।१४)

अर्थ—जो मनुष्य विद्या (ज्ञान) और अविद्या (कर्म) को साथ-साथ जान लेता है, वह अविद्या (कर्म) से मृत्यु को पार करके विद्या (ज्ञान) से अमृत को प्राप्त करता है । ज्ञान के विना कर्म और कर्म के विना ज्ञान दोनों परस्पर अधूरे हैं । ज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठान ही सर्वाङ्गपूर्ण है । और केवल ज्ञान से मोक्ष कदापि नहीं हो सकता । क्योंकि मोक्ष भी कर्मों का फल ही है; अतः ज्ञान-कर्म का समुच्चय परमावश्यक है । वेद-मन्त्र में इस बात पर बल देने के लिए 'उभयं सह' शब्दों से उपदेश किया है । इस मन्त्र के अविद्यया=कर्मणा 'विद्यया=ज्ञानेन' अर्थ करने के लिए शङ्कराचार्य जी को भी सत्यार्थ करने के लिए बाध्य होना पड़ा। क्योंकि मन्त्र में अविद्या और विद्या को साथ-साथ जानने के लिए कहा गया है । यदि इनमें परस्पर विरोध होता तो ऐसा कदापि मूल-मन्त्र में उल्लेख न होता ।

१—"कथं पुनरिदमवगम्यते पूर्वेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति । उच्यते ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ?" (ईशोप० शा० भा०)

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

अथात्महन्तारो जनाः कीदृशा इत्याह ॥

अब आत्मा के हननकर्त्ता अर्थात् आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले जन कैसे होते हैं, यह उपदेश किया है ॥

असुर्य्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

***पदार्थः—*(असुर्य्या)** असुराणां=प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादि-युक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः **(नाम)** प्रसिद्धौ **(ते) (लोकाः)** लोकन्ते=पश्यन्ति ते जनाः **(अन्धेन)** अन्धकाररूपेण **(तमसा)** अत्यावरकेण **(आवृताः)** समन्ताद्युक्ता=आच्छादिताः **(तान्)** दुःखान्ध-कारावृतान् भोगान् **(ते) (प्रेत्य)** मरणं प्राप्य **(अपि)** जीवन्तोऽपि **(गच्छन्ति)** प्राप्नुवन्ति **(ये) (के) (च) (आत्महनः)** य आत्मानं घ्नन्ति=तद्विरुद्धमाचरन्ति ते **(जनाः)** मनुष्याः ॥३॥

अन्वयः—ये लोका अन्धेन तमसावृता ये के चात्महनो जनाः सन्ति तेऽसुर्य्या नाम, ते प्रेत्यापि तान् गच्छन्ति ॥३॥

***सपदार्थान्वयः—* ये लोकाः** लोकन्ते=पश्यन्ति ते जनाः **अन्धेन** अन्धकाररूपेण **तमसा** अत्यावरकेण **आवृताः** समन्ताद्युक्ता=आच्छादिताः **ये के चात्महनः** य आत्मानं घ्नन्ति=तद्विरुद्धमाचरन्ति ते **जनाः** मनुष्याः **सन्ति तेऽसुर्य्याः** असुराणां=प्राणपोषणतत्पराणाम-विद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिन-स्तत्सदृशः पापकर्माणः **नाम** प्रसिद्धाः; **ते प्रेत्य** मरणं प्राप्य **अपि** जीवन्तोऽपि **तान्** दुःखान्धकारावृतान् भोगान् **गच्छन्ति** प्राप्नुवन्ति ॥४०।३॥

भाषार्थ—जो (लोकाः) लोग (अन्धेन) अन्धकाररूप (तमसा) अज्ञान के आवरण से (आवृताः) सब ओर से ढके हुए (ये, के, च) और जो कोई (आत्महनः) आत्मा के विरुद्ध आचरण करने हारे (जनाः) मनुष्य हैं; (ते) वे (असुर्याः) अपने प्राणपोषण में तत्पर, अविद्या आदि दोषों से युक्त लोगों एवम् उनके सम्बन्धियों के सदृश पाप कर्म करने वाले (नाम) प्रसिद्ध हैं, (ते) वे (प्रेत्य) मरने के पीछे (अपि) और जीते हुए भी (तान्) उन दुःख अज्ञान रूप अन्धकार से युक्त भोगों

को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ।।३।।

***भावार्थः*—**त एव असुरा, दैत्या, राक्षसाः, पिशाचा, दुष्टा मनुष्या य आत्मन्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यदा-चरन्ति ते न कदाचिदविद्यादुःख-सागरादुत्तीर्याऽऽनन्दं प्राप्तुं शक्नुवन्ति।

***भावार्थ*—**वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच एवं दुष्ट हैं; जो आत्मा में और, वाणी में और तथा कर्म में कुछ और ही करते हैं, वे कभी अविद्या रूप दुःख-सागर से पार होकर आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकते ।

ये च यदात्मना तन्मनसा यन्मनसा तद्वाचा, यद्वाचा तत्कर्मणा-ऽनुतिष्ठन्ति; त एव देवा, आर्याः, सौभाग्यवन्तोऽखिलजगत्पवित्रयन्त इहाऽमुत्राऽतुलं सुखमश्नुवते ।।४०।३।।

और जो लोग जो आत्मा में सो मन में, जो मन में सो वाणी में, जो वाणी में सो कर्म में कपटरहित आचरण करते हैं; वे ही देव, आर्य, सौभाग्यवान् जन सब जगत् को पवित्र करते हुए इस लोक तथा परलोक में अनुपम सुख को प्राप्त करते हैं ।।४०।३।।

***भा० पदार्थः*—**आत्महनः=आत्मन्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यदाचरण-कर्त्तारः । गच्छन्ति=प्राप्तुं शक्नुवन्ति ।

***भाष्यसार*—आत्महन्ता लोग कैसे होते हैं**—जो लोग अन्धकार रूप अज्ञान के आवरण से आच्छादित हैं; सब ओर से ढके हुए हैं; और जो आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले हैं, वे आत्महन्ता कहलाते हैं । वे ही असुर अर्थात् प्राण-पोषण में तत्पर, अविद्यादि दोषों से युक्त, पापकर्म करने वाले हैं । जो आत्मा में और वाणी में और तथा कर्म में और ही आचरण करते हैं, वे ही असुर, दैत्य, राक्षस, पिशाच और दुष्ट मनुष्य हैं, वे मरकर तथा जीते हुए भी दुःख एवम् अन्धकार से युक्त भोगों को प्राप्त होते हैं । वे कभी भी अविद्या रूप दुःखसागर से पार होकर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते ।

इसके विपरीत—जो मनुष्य जो आत्मा में सो मन में, जो मन में सो वाणी में, जो वाणी में सो कर्म में निष्कपट भाव से आचरण करते हैं; वे ही देव, आर्य, सौभाग्यशाली, सकल, जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं; जो इस लोक और परलोक में अतुल सुख को प्राप्त करते हैं ।।४०।३।।

अन्यत्र व्याख्यात—(ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने, मानने और करने हारे हैं (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असुर्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य, राक्षस नाम वाले मनुष्य हैं; और वे ही (अन्धेन तमसावृताः) बड़े अधर्म रूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं ।

और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं; वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं । वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्द युक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं ।

(व्यवहारभानु)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के तृतीय-मन्त्र की व्याख्या में शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

क—"अब अज्ञानी की निन्दा करने के लिए यह (तीसरा) मन्त्र आरम्भ किया जाता है ।"[१]

ख—"अद्वय परमात्म-भाव की अपेक्षा से देवतादि भी असुर ही हैं। उनके अपने लोक 'असुर्य' हैं । जिनमें कर्मफलों का लोकन=दर्शन यानी भोग होता है, वे लोक अर्थात् जन्म अन्ध=अदर्शनात्मक तम=अज्ञान से आच्छादित हैं । वे इस शरीर को छोड़कर अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त योनियों में ही जाते हैं ।"[२]

ग—"जो आत्मा का घात करते हैं, वे आत्मघाती हैं । वे लोग कौन हैं ? जो अज्ञानी हैं । वे सर्वदा अपने आत्मा की किस प्रकार हिंसा करते हैं ? अविद्यारूप दोष के कारण अपने नित्यसिद्ध आत्मा का तिरस्कार करने से ।" "प्राकृत अज्ञानी जन आत्मघाती कहे जाते हैं । इस

१—"अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते ।"

(ईशावा० मं० ३ शाङ्करभाष्य)

२—"असुर्याः=परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुरास्तेषाञ्च स्वभूता लोका असुर्या नाम । ते लोकाः कर्मफलानि, लोक्यते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि । अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसावृता आच्छादिताः तान् स्थावरान्तान् प्रेत्य=त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।"

(ईशावा० मं० ३ । शा० भा०)

आत्मघातरूप दोष के कारण ही वे जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं ।।"[१]

इस मन्त्र का देवता 'आत्मा' है । अतः आत्म-विषयक चर्चा ही मन्त्र का विषय होना चाहिए । शाङ्कर-भाष्य में इस मन्त्र का विषय 'अज्ञानी की निन्दा' माना है । जब उनके मत में एक परमात्मा ही परमतत्त्व है, उससे भिन्न और किसी की सत्ता ही नहीं तो अज्ञानी कौन हैं ? क्या परमात्मा ही अज्ञानी बन जाता है ?

और 'असुर्याः' पद की व्याख्या में देवतादि को भी असुर कहना बिल्कुल गलत है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'विद्वांसो हि देवाः' विद्वान् पुरुषों को देव कहते हैं । क्या देव और असुर में कोई अन्तर नहीं है ? और 'सर्वं खलु ब्रह्म' मानने वाले यह भी भूल गए कि इससे वह ब्रह्म भी असुर हो जायेगा । और 'लोकाः' पद की व्याख्या की है—कर्मफल तथा जन्म । 'लोक' शब्द 'लोकृ दर्शने' धातु से बना है, किन्तु शाङ्कर-भाष्य में धात्वर्थ की भी उपेक्षा करके उसका 'भोगना' अर्थ कर दिया । क्या ही विचित्र कल्पना है ? और इस अर्थ की मन्त्रार्थ में सङ्गति भी नहीं लगती । क्योंकि मन्त्र में कहा है कि वे लोक तमसा=अन्धकार से ढके हुए हैं। क्या कर्मफल या जन्म अन्धकार से ढके होते हैं? यथार्थ में 'लोकन्ते पश्यन्ति ये ते जनाः' इस धात्वर्थ के अनुसार मनुष्य अज्ञान से ढके हुए होते हैं ? अतः यहां 'लोकाः' का अर्थ 'जनाः' ही सुसङ्गत है ।

इस मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी ने 'यथाकर्म यथाश्रुतम्' कहकर अपने-अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार योनियों में जाना स्वीकार कर ही लिया । किन्तु यहां यह भूल गए कि कर्मफल के सिद्धान्त को स्वीकार करने से अद्वैतवाद खिसक जायेगा । क्योंकि कर्मों का फल कौन भोगता है, परमात्मा या जीवात्मा ? परमात्मा को तो स्वयं ही भोक्ता नहीं मानते, और जीवात्मा की सत्ता ही नहीं मानते, किन्तु यहां तो माननी ही पड़ेगी । यह अचेतन शरीर तो अग्नि-द्वारा ही भस्म हो जाता है । अतः कर्म-फल का भोग जीवात्मा ही करेगा । पूर्व शरीर का त्याग और नवीन शरीर की प्राप्ति जीवात्मा की ही माननी होगी ।

१—"आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः । के ते जनाः ? येऽविद्वांसः । कथं त आत्मानं हिंसन्ति ? अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनः तिरस्करणात् ।" "प्राकृताऽविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते । तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते ।" (ईशावा० मं० ३। शा० भा०)

मन्त्र-पठित 'आत्महन:' पद का अर्थ भी श्री शङ्कराचार्य जी ने ठीक नहीं किया है । मन्त्र में दो बातें कही हैं और उन का चकार से समुच्चय किया है । एक तो यह है—जो मनुष्य अज्ञान से ढके हुए हैं और दूसरी यह है कि जो आत्महन:=आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले हैं। परन्तु शाङ्करभाष्य में 'चकार' को न समझकर एक ही अर्थ कर दिया। आत्मघाती कौन हैं ? जो अज्ञान से ढके हैं । महर्षि दयानन्द ने मन्त्र के रहस्य को अच्छी प्रकार समझा और उसकी अत्युत्तम सुसङ्गत व्याख्या की है । उन्होंने लिखा है कि आत्मघाती वे मनुष्य होते हैं जो अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करते हैं । वे दोनों प्रकार के ही मनुष्य हो सकते हैं—ज्ञानी और अज्ञानी । केवल अज्ञानी ही नहीं । विद्वान् भी बहुत बार लोभादि के कारण आत्मा के विरुद्ध आचरण करते रहते हैं, और अविद्वान् आत्मा के विरुद्ध आचरण न करने से आत्मघात-दोष से मुक्त भी रह जाते हैं ।

और जन्म-मरण में आवागमन के चक्र का कारण अविद्या-ग्रस्त आत्मघात ही नहीं है, अपितु जीवों के अपने शुभाशुभ कर्म भी हैं । चाहे कितना भी विद्वान् हो गया हो यदि कर्म अच्छे नहीं हैं, वह कभी भी जन्म-मरण से मुक्त नहीं हो सकता ।

इस मन्त्र के भाष्य में भी उव्वट लिखते हैं—

"ये के चात्महनो जना:=आत्मानं घ्नन्ति ये जना: ते आत्महन:।

आत्मानं च ते घ्नन्ति ये स्वर्ग-प्राप्तिहेतूनि कर्माणि कुर्वन्ति ।।"

(अर्थ) जो लोग आत्मा का हनन करते हैं, वे 'आत्महन्' कहलाते हैं । और आत्मा का हनन वे लोग करते हैं, जो स्वर्गप्राप्ति के निमित्त कर्म करते हैं ।

समीक्षा—मन्त्र में कहा है कि जो आत्मा का हनन करते हैं वे असुर=राक्षस हैं और वे मरकर घोर अन्धकार वाले लोकों को प्राप्त करते हैं । किन्तु 'स्वर्गकामो यजेत' (ब्राह्मण०) स्वर्ग की कामना करने वाले यज्ञ करें, इस प्रमाण के अनुसार स्वर्गप्राप्ति के हेतुभूत यज्ञादि शुभ कर्मों को करने वाले मनुष्यों को आत्मघाती तथा राक्षस बताना कैसा अद्भुत भाष्य है ? जिस स्वर्ग के विषय में उपनिषदों में अन्यत्र ऐसा लिखा है—

क—स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते ।। (कठो०)

स्वर्ग को प्राप्त मनुष्य अमृतत्व=अमरता को प्राप्त करते हैं ।

ख–शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।। (कठो०)

शोकादि दुःखों से पार हुआ मनुष्य स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है।

ग–स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।। (कठो०) अर्थात् स्वर्गलोक को प्राप्त करने वाले को भय तथा बुढ़ापादि नहीं रहते ।

घ–त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ।। (कठो०)

अर्थात् त्रिकर्मकृत्=यज्ञ, अध्ययन तथा दान करने वाला जन्म तथा मृत्यु के दुःख को पार कर लेता है ।

इत्यादि स्थलों पर स्वर्ग के विषय में पर्याप्त वर्णन मिलता है, जिस से स्पष्ट होता है कि स्वर्गलोक घोर अन्धकार या दुःख अथवा असुरों का स्थान नहीं है । स्वयं श्री शङ्कराचार्य जी ने भी लिखा है–

'यस्मिन् स्वर्गे देवानां पतिरिन्द्रः एकः सर्वानुपरि अधिवसति ।'

(मुण्डको० १।२।५ शा० भा०)

अर्थात् स्वर्गलोक में देवों का स्वामी इन्द्र सर्वोपरि है । यद्यपि स्वर्गलोक कोई स्थान विशेष नहीं है, परन्तु जो सनातनी बन्धु स्थान विशेष ही मानते हैं, उनके मत में भी घोर अन्धकार वाला लोक कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अतः स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले कर्मों को करने वालों को आत्मघाती बताना एक मिथ्याग्रह से उत्पन्न प्रतिभा का ही फल हो सकता है; शास्त्रों तथा मूल मन्त्र से यह व्याख्या सर्वथा ही विपरीत है ।

दीर्घतमाः । ***ब्रह्म***=स्पष्टम् । निचृत्त्रिष्टुप् । धैवतः ।।

कीदृशो जन ईश्वरं साक्षात्करोतीत्याह ।।

कैसा मनुष्य ईश्वर को साक्षात् करता है, यह उपदेश किया है ।।

अने॑जदेकं॒ मन॑सो॒ जवी॑यो॒ नैन॑द्दे॒वाऽआ॑प्नुव॒न् पूर्व॒मर्ष॑त् ।
तद्धाव॑तो॒ऽन्यानत्ये॑ति॒ तिष्ठ॒त्तस्मि॑न्न॒पो मा॑त॒रिश्वा॑ दधाति ।।४।।

***पदार्थः*—(अनेजत्)** न एजते=कम्पते तदचलत्=स्वावस्थाया-श्च्युतिः कम्पनं तद्रहितम् **(एकम्)** अद्वितीयं ब्रह्म **(मनसः)** मनोवेगात् **(जवीयः)** अतिशयेन वेगवत् **(न) (एनत्) (देवाः)** चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा **(आप्नुवन्)** प्राप्नुवन्ति **(पूर्वम्)** पुरःसरं पूर्णम् **(अर्षत्)** गच्छत् **(धावतः)** विषयान् प्रति पततः **(अन्यान्)** स्वरूपाद्विलक्षणान्मनो-वागिन्द्रियादीन् **(अति)** उल्लङ्घते **(एति)** प्राप्नोति=गच्छति **(तिष्ठत्)**

स्वस्वरूपेण स्थिरं सत् **(तस्मिन्)** सर्वत्राऽभिव्याप्ते **(अपः)** कर्म क्रियां वा **(मातरिश्वा)** मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान् धरति वायुस्तद्वद्वर्त्तमानो जीवः **(दधाति)** ।।४।।

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्याः ! यदेकमनेजन्मनसो जवीयः पूर्वमर्षद् ब्रह्माऽस्त्येनद्देवा नाप्नुवँस्तत्स्वयं तिष्ठत्सत्स्वानन्तव्याप्त्या धावतोऽन्यान-त्येति तस्मिन्स्थिरे सर्वत्राभिव्याप्ते मातरिश्वा वायुरिव जीवोऽपो दधातीति विजानीत ।।४।।

सपदार्थान्वयः—**हे विद्वांसो मनुष्या ! यदेकम्** अद्वितीयं ब्रह्म **अनेजत्** न एजते=कम्पते तदचलत्=स्वावस्थायाश्च्युतिः कम्पनं तद्रहितं, **मनसः** मनोवेगात् **जवीयः** अतिशयेन वेगवत् **पूर्वं** पुरःसरं पूर्णम् **अर्षत्** गच्छत् **ब्रह्माऽस्त्येनद् देवाः** चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा **नाप्नुवन्** प्राप्नुवन्ति; **तत्स्वयं तिष्ठत्** स्व-स्वरूपेण स्थिरं **सत् स्वानन्तव्याप्त्या धावतः** विषयान् प्रति पततः अन्यान् स्वस्वरूपाद्विलक्षणान्मनोवागिन्द्रि-यादीन् **अति+एति** उल्लङ्घ्य प्राप्नोति=गच्छति ।

भाषार्थ—हे विद्वान् मनुष्यो! जो (एकम्) अद्वितीय ब्रह्म है वह (अनेजत्) कम्पन रहित अर्थात् अपनी अवस्था-स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता; वह (मनसः) मन के वेग से भी (जवीयः) अति वेगवान् (पूर्वम् सब का अग्रणी, पूर्ण (अर्षत्) सर्वत्र मन से पहले पहुंचा हुआ ब्रह्म है । (एनत्) इस ब्रह्म को (देवाः) अविद्वान् अथवा चक्षु आदि इन्द्रियां (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्त कर सकती हैं । (तत्) वह स्वयं (तिष्ठत्) अपने स्वरूप में स्थिर हुआ अपनी अनन्त व्यापकता से (धावतः) विषयों की ओर भागने वाले (अन्यान्) उसके अपने स्वरूप से भिन्न मन, वाणी, इन्द्रिय आदिकों को (अत्येति) प्राप्त नहीं होता ।

तस्मिन्=स्थिरे सर्वत्राभि-व्याप्ते मातरिश्वा=वायुरिव जीवः मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान् धरति वायुस्तद्वद् वर्त्तमानो जीवः **अपः कर्म क्रियां वा दधातीति**

(तस्मिन्) उस सर्वत्र व्यापक स्थिर ब्रह्म में (मातरिश्वा) जैसे अन्तरिक्ष में वायु क्रियाशील रहता है वैसे ही जीव (उस ब्रह्म में) (अपः) कर्म वा क्रिया को धारण

विजानीत ।।४०।४।।

***भावार्थः*—**ब्रह्मणोऽनन्तत्वाद्यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र पुरस्तादेवाऽभिव्याप्तमग्रस्थं ब्रह्म वर्त्तते; तद्विज्ञानं शुद्धेन मनसैव जायते । चक्षुरादिभिरविद्वद्भिश्च द्रष्टुमशक्यमस्ति । स्वयं निश्चलं सत् सर्वान् जीवान् नियमेन चालयति धरति च । तस्याऽतिसूक्ष्मत्वादतीन्द्रियत्वाद्धार्मिकस्य विदुषो योगिन एव साक्षात्कारो भवति, नेतरस्य ।।४०।४

करता है, ऐसा जानो ।।४।।

***भावार्थ*—**ब्रह्म अनन्त है, अतः जहां-जहां मन जाता है, वहां-वहां पहले से ही व्यापक एवम् आगे आगे स्थित है; उस ब्रह्म का ज्ञान शुद्ध मन से ही होता है । उसे चक्षु आदि इन्द्रियां और अविद्वान् लोग नहीं देख सकते । वह स्वयं स्थिर रहता हुआ सब जीवों को नियम में चलाता है और उनको धारण करता है उस ब्रह्म के अति सूक्ष्म एवम् अतीन्द्रिय होने से धार्मिक, विद्वान्, योगी को ही उस का साक्षात्कार होता है; अन्य को नहीं ।।४०।।४।।

***भा० पदार्थः*—**अर्षत्=अग्रस्थं वर्त्तते । देवा=विद्वांसश्चक्षुरादीनि च । आप्नुवन्=द्रष्टुं शक्नुवन्ति । अनेजत्=निश्चलं सत् ।।

***भाष्यसार*—कैसा मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है—** अद्वितीय ब्रह्म कम्पन रहित है अर्थात् अपने स्वरूप से कभी विचलित नहीं होता । वह मनोवेग से अधिक वेगवान् है अर्थात् ब्रह्म अनन्त है; जहां-जहां मन जाता है वहां-वहां ब्रह्म पहले से ही व्यापक है । उसका विशिष्ट ज्ञान शुद्ध मन से ही होता है । चक्षु आदि इन्द्रियां और अविद्वान् लोग उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते; उसे प्राप्त नहीं कर सकते । वह अपने स्वरूप में स्थिर है । विषयों की ओर दौड़ने वाली, ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न मन और वाणी आदि इन्द्रियों को वह अपनी अनन्त व्याप्ति से लांघ जाता है । वह स्वयं निश्चल है तथा सब जीवों को नियम से चलाता है और उन्हें धारण करता है । उस सर्वत्र व्याप्त तथा स्थिर ब्रह्म में जीव अपने कर्मों को स्थापित करता है । वह अति सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है। धार्मिक विद्वान् योगी ही उसका साक्षात्कार करता है ।। ४०।४।।

***अन्यत्र व्याख्यात*—**"नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्" (य० ४०।४)—इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है; जो कि

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन ये छः देव कहाते हैं । क्योंकि शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है । और 'देव' शब्द से स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है।।४०।४।। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचार)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के चतुर्थ मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

क—"वह आत्मतत्त्व कम्पन=चलन-अर्थात् अपनी अवस्था से च्युत होने से रहित है: अर्थात् सर्वदा एक रूप ही रहता है । वह एक ही सब प्राणियों में वर्त्तमान है ।"[१]

ख—"वह सर्वव्यापी आत्मतत्त्व अपने निरुपाधिक स्वरूप से समस्त संसारधर्मों से रहित तथा निर्विकार होकर ही उपाधिकृत सम्पूर्ण सांसारिक विकारों को अनुभव करता है और अविवेकी मूढ पुरुषों को प्रत्येक शरीर में अनेक सा प्रतीत होता है ।"[२]

ग—"उस नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व के वर्त्तमान रहते हुए ही, जो अन्तरिक्ष में सञ्चार=गमन करता है, वह मातरिश्वा वायु, जो समस्त प्राणों का पोषक और क्रियारूप है, जिसके अधीन ये सारे शरीर और इन्द्रियां हैं तथा जिसमें ये सब ओत-प्रोत हैं और जो सूत्रसंज्ञक तत्त्व निखिल जगत् का विधारक है, वह मातरिश्वा (वायु) प्राणियों के चेष्टारूप कर्म अर्थात् अग्नि, सूर्य मेघादि के ज्वलन, दहन, प्रकाशन एवं वर्षादि कर्म विभक्त करता है ।"[३]

---

(१) "अनेजत्=न एजत् । एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिः, तद्वर्जितम्=सर्वदैकरूपमित्यर्थः । तच्चैकं सर्वभूतेषु ।"
(ईशावा० मं० ४ । शा० भा०)

(२) "सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसार-विक्रिया अनुभवतीत्य-विवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासते ।"
(ईशा० मं० ४ । शा० भा०)

(३) "तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरि=अन्तरिक्षे श्वयति=गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत् क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा, अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि, अग्न्यादित्य-पर्जन्यादीनां ज्वलन-दहन-प्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजति इत्यर्थः।" (ईशावा० ४। मं० शा० भा०)

यहां शङ्कराचार्य जी ने आत्मतत्त्व (ब्रह्म) को आकाश की भांति सर्वव्यापक अपनी अवस्था से च्युत न होने वाला सर्वदा एकरस तथा निरुपाधिक स्वरूप से सांसारिक धर्मों से रहित माना है, और फिर उसे ही यह भी कह दिया कि वही सोपाधिक होकर सब संसार के विकारों को अनुभव करता है । ये परस्पर विरोधी बातें कदापि सत्य नहीं हो सकतीं । जो निरुपाधिस्वरूप है, वह उपाधिस्वरूप कैसे होगा ? जो निर्विकार है, वह विकारों का अनुभव कैसे करेगा ? स्वयं श्री शङ्कराचार्य जी ने 'द्वा सुपर्णा सयुजा० (मुण्डकोप० ३।१।१) के भाष्य में "सर्वसत्त्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति" वह ईश्वर भोग नहीं करता है, ऐसा माना है, और यहां उसे ही विकारों का अनुभव करने वाला मान लिया है । क्या ये परस्पर विरोधी बातें विद्वानों को मान्य हो सकती हैं ? और जो बात मन्त्र में ही नहीं है, उसको व्याख्या में कैसे कहा जा सकता है ?

श्री शङ्कराचार्य जी का यह कथन भी मिथ्या तथा शास्त्रविरुद्ध है कि अविवेकी मूढ पुरुषों को वह ब्रह्म ही प्रत्येक शरीर में अनेक सा प्रतीत होता है । यदि प्रत्येक शरीर में एक ही चेतन सत्ता कार्य कर रही है, उस ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की कोई सत्ता नहीं है तो एक दूसरे की बातों का ज्ञान क्यों नहीं होता ? एक के विद्वान् होने से सभी विद्वान् तथा एक के दुष्कर्म करने से सभी पापी क्यों नहीं हो जाते ? सब शरीरों में एक ही चेतन ब्रह्म है तो कर्मों का फल किसको मिलता है और कौन देता है ? एक के मुक्त होने से सब मुक्त क्यों नहीं हो जाते ? इत्यादि प्रश्नों का क्या इस मान्यता में कोई उत्तर सम्भव है ?

और यह मान्यता उपनिषदों के भी विरुद्ध है, और नहीं इस मन्त्र में ही कही गई है । मन्त्र में ब्रह्म को एक कहा है, उसमें प्रतिशरीर में विद्यमान जीवों का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है । उपनिषदों में ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की पृथक् सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है । जैसे–

(अ) 'द्वा सुपर्णा सयुजा०' (मुण्डक०) में परमात्मा को अभोक्ता और जीवात्मा को भोक्ता पृथक् मानकर ही वर्णन किया है । (आ) 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् ।' (बृहदारण्यको०) में जीवात्मा को परमात्मा का शरीर बताया है अर्थात् वह सूक्ष्मतम होने से जीवात्मा में भी व्यापक है । (इ) 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्०' (कठोप०) में नित्य व चेतन ब्रह्म से भिन्न जीवात्माओं

को नित्य तथा चेतन माना है । इत्यादि अनेक प्रमाण दिए जा सकते हैं।

श्री शङ्कराचार्य जी की यह भी मान्यता कैसी बेतुकी है कि ब्रह्मतत्त्व के वर्त्तमान रहते हुए वायु शरीर-इन्द्रियों को चलाता है और सब प्राणियों के कर्मों को धारण करता या विभक्त करता है । यदि इस मान्यता को मान लिया जाए, तब तो कोई भी प्राणी मरे ही नहीं । मृत्यु का अर्थ है, शरीर से जीवात्मा का वियोग होना । जब जीवात्मा की कोई सत्ता ही नहीं तो परब्रह्म तो सर्वत्र व्यापक तथा शाश्वत है, मृत शरीर में भी है, तब तो किसी की मृत्यु होनी ही नहीं चाहिए । और वायु जड़ है, वह ज्ञानेन्द्रियों व शरीरादि को चलाता है, ऐसी निराधार बातों को कोई मूढ़ व्यक्ति भी स्वीकार नहीं कर सकता । पता नहीं इन नवीन वेदान्तियों ने इन्हें कैसे मान रक्खा है । जो स्वयं प्रत्येक व्यक्ति को साक्षात् अनुभव में आ रहा है, उससे भी विरुद्ध कहना या मानना क्या विवेक की बात हो सकती है ? वायु देखना चाहे देखे, सुनना चाहे सुने, यह कैसे सम्भव है ? परब्रह्म को तो देखने सुनने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। अचेतन वायु शरीर में इन्द्रियों को वश में रक्खे, और प्राणियों के कर्मों को विभक्त करे, क्या ये बातें बुद्धिगम्य हो सकती हैं ?

प्राणियों से यहां श्री शङ्कराचार्य जी ने अग्नि, सूर्य, मेघादि का ग्रहण किया है । यह भी वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध मान्यता है । समस्त शास्त्रों में प्राण, अपानादि क्रियाओं को जीवात्मा का लिङ्ग=ज्ञापक माना है किन्तु श्री शङ्कर-स्वामी कह रहे हैं कि प्राणी से अभिप्राय जड़ सूर्यादि से है । जीवात्मा की सत्ता न मानकर पक्षपात एवं दुराग्रहग्रस्त होकर ही ऐसी शास्त्रविरोधी एवं बुद्धिविरोधी बातें लिखी गई हैं । स्वयं को ब्रह्म मानने वालों की बुद्धि का यहां दिवाला ही निकल गया है । और जड़ वायु सूर्यादि प्राणियों के कर्मों को धारण करें या विभक्त करें, इसे भी कौन विद्वान् स्वीकार करेगा ? वायु, सूर्यादि परमात्मा की प्रेरणा से अपने-अपने कार्यों में रत हैं । इन में ऐसा ज्ञान कहां कि एक दूसरे के कर्मों को विभक्त कर सकें ।

यथार्थ में सत्य से विमुख व्यक्ति पद-पद पर ठोकरें ही खाता है। उसकी मानी हुई मिथ्या-मान्यता सर्वत्र परस्पर विरुद्ध होने से अवश्य ही टकराती हैं । इस मन्त्र का महर्षि दयानन्द का सुसङ्गत, शास्त्रसम्मत तथा अविरुद्ध अर्थ देखने से उपर्युक्त समस्त मिथ्या, मान्यताओं का समूल

परिहार हो जाता है ।

श्री उव्वट तथा श्री महीधर के भाष्य की समीक्षा–

इस मन्त्र के 'पूर्वम् अर्षत्' पदों की व्याख्या में श्री उव्वट ने 'अर्षत्' पद में रिशति हिंसाकर्मा' धातु मानकर 'अविनश्यत्' (अविनाशी) अर्थ किया है । श्री महीधर ने 'अर्शत्' पद ही मानकर लिखा है–

"अर्शत्=रिश हिंसायाम्, रिश्यति=नश्यति रिशत्, न रिशद्, अरिशत्, धातोरिकारलोपश्छान्दसः ।"

इस प्रकार दोनों ही भाष्यकारों ने 'अर्षत्=अविनाशी' अर्थ किया है। इस अर्थ के अनुसार "वह ब्रह्म पहले अविनाशी" था । क्या बाद में विनाशी हो जाता है ? यदि नहीं, तो पहले अविनाशी कहना असङ्गत ही है । इस का महर्षि दयानन्दकृत अर्थ द्रष्टव्य है, क्योंकि उसमें किसी भी तरह की असङ्गति नहीं है ।

इस मन्त्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य, श्री उव्वट तथा श्री महीधर ने 'मातरिश्वा' पद का वायु अर्थ किया है । किन्तु यह अर्थ प्रकरण के अनुकूल नहीं है । मन्त्र के प्रथम तीन चरणों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है । उसी का स्मारक 'तस्मिन्' पद मन्त्र के चतुर्थ-चरण में विद्यमान है । इस पद का वायुपरक अर्थ करने पर मन्त्रार्थ यह होगा ।

"उस ब्रह्म में वायु कर्मों को स्थापित करता है ।"

वायु अचेतन है, वह ब्रह्म में क्या कर्मों को स्थापित करेगा ? महर्षि दयानन्द ने इस पद का अर्थ करते हुए लिखा है–"मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति=प्राणान् धरति वायुः, तद्वद् वर्त्तमानो जीवः ।" अर्थात् जैसे अन्तरिक्ष में रहने से वायु को 'मातरिश्वा' कहते हैं, वैसे ही जीव भी ब्रह्मरूपी माता के आश्रय से प्राणादि धारण करता है और अपने कर्मों को ब्रह्म में स्थापित करता है । अर्थात् स्वकर्मानुसार ब्रह्म जीवों को कर्मफल देता है । अतः यह अर्थ प्रकरणानुकूल होने से सुसङ्गत है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

विदुषां निकटेऽविदुषां च ब्रह्म दूरेऽस्तीत्याह ।।

विद्वानों के निकट और अविद्वानों से ब्रह्म दूर है, यह उपदेश किया है ।।

तदे॑जति॒ तन्नै॒ज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के ।
तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः ॥५॥

***पदार्थः*—(तत्) (एजति)** कम्पते=चलति मूढदृष्ट्या **(तत्) (न) (एजति)** कम्पते कम्प्यते वा **(तत्) (दूरे)** अधर्मात्मभ्योऽ-विद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः **(तत्) (उ) (अन्तिके)** धर्मात्मनां विदुषां समीपे **(तत्) (अन्तः)** आभ्यन्तरे **(अस्य) (सर्वस्य)** अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा **(तत्) (उ) (सर्वस्य)** समग्रस्य **(अस्य)** प्रत्यक्षाऽ-प्रत्यक्षात्मकस्य **(बाह्यतः)** बहिरपि वर्त्तमानः ।।५।।

***अन्वयः*—**हे मनुष्यास्तद् ब्रह्मैजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदस्य सर्वस्यान्तस्तदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतो वर्तत इति निश्चिनुत ।।५।।

***सपदार्थान्वयः*— हे मनुष्याः !** तद्=ब्रह्मैजति कम्पते=चलति मूढदृष्ट्या **तन्नैजति** कम्पते कम्प्यते वा **तद्दूरे** अधर्मात्मभ्योऽ-विद्वद्भ्योऽयोगिभ्यः **तद्वन्तिके** धर्मात्मनां विदुषां योगिनां समीपे । **तदस्य सर्वस्य** अखिलस्य जगतो जीवसमूहस्य वा **अन्तः** आभ्यन्तरे, **तदु सर्वस्य** समग्रस्य **अस्य** प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षात्मकस्य (जगतः) **बाह्यतः** बहिरपि वर्त्तमानः **वर्त्तत इति निश्चिनुत** ।।४०।५।।

***भाषार्थ*—**हे मनुष्यो ! (तद्) वह ब्रह्म (एजति) चलता है ऐसा मूढ समझते हैं; (तत्) वह (न) नहीं (एजति) चलता है और न कोई उसको चला सकता है । (तत्) वह दूरे अधर्मात्मा अविद्वान् अयोगियों से दूर है; (तत्) वह (उ) निश्चय से (अन्तिके) धर्मात्मा विद्वान् योगियों के समीप है । (तत्) वह ब्रह्म (अस्य) इस (सर्वस्य) सब जगत् एवं जीवों के (अन्तः) अन्दर विराजमान है । (तत्) वह (उ) निश्चय से (अस्य) इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जगत् के (बहिः) बाहर भी विराजमान है; ऐसा निश्चित जानो ।।४०।५।।

***भावार्थः*—**हे मनुष्याः ! तद् ब्रह्म मूढदृष्टौ कम्पत इव । तत् स्वतो व्यापकत्वात् कदाचिन्न चलति।

***भावार्थ*—**हे मनुष्यो ! वह ब्रह्म चलता सा है, ऐसा मूढ़ मानते हैं; वह व्यापक होने से अपने स्वरूप से कभी भी चलायमान

ये तदाज्ञाविरुद्धास्ते इतस्ततो धावन्तोऽपि तन्न विजानन्ति; ये चेश्वराऽऽज्ञाऽनुष्ठातारस्ते स्वाऽऽत्मस्थमतिनिकटं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति ।

नहीं होता है ।

जो लोग उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं, वे उसकी प्राप्ति के लिए इधर-उधर भागते हुए भी उसको नहीं जान सकते; और जो ईश्वर की आज्ञा के अनुसार आचरण करते हैं, वे अति निकट अपने आत्मा में स्थित ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ।

यद् ब्रह्म सर्वस्य प्रकृत्यादेर्बाह्याऽभ्यन्तराऽवयवानभिव्याप्य सर्वेषां जीवानामन्तर्यामिरूपतया सर्वाणि पाप-पुण्यात्मककर्माणि विजानन् याथातथ्यं फलं, प्रयच्छत्येतदेव सर्वैर्ध्येयमस्मादेव सर्वैर्भेतव्यमिति ।।४०।५।।

जो ब्रह्म सब प्रकृति आदि के बाहर और भीतर के अवयवों में व्यापक होकर सब जीवों के अन्तर्यामी रूप से सब पाप और पुण्य कर्मों को जानता हुआ ठीक-ठीक फल प्रदान करता है; अतः इसी ब्रह्म का ही सब को ध्यान (उपासना) करनी चाहिए और इसी से सब को डरना चाहिए ।।४०।५।।

***भा० पदार्थः*—**तद्=ब्रह्म । एजति=मूढदृष्टौ कम्पत इव । अन्तिके=अतिनिकटम् । अस्य=प्रकृत्यादेः ।

***भाष्यसार*—ब्रह्म विद्वानों के निकट और अविद्वानों से दूर है**—वह ब्रह्म मूढों की दृष्टि में चलता है । वास्तव में वह न चलता है और न उसको कोई चला सकता है । यह स्वतः व्यापक होने से कभी नहीं चलता । अधर्मात्मा, अविद्वान् और अयोगी जनों से वह दूर है । जो उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते हैं, वे इधर-उधर दौड़ते हुए भी उसे नहीं जान सकते । वह धर्मात्मा, विद्वान् योगी जनों के समीप है । अर्थात् जो ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं; वे अपने आत्मा में स्थित, अति निकट ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं । वह इस सब जगत् के तथा जीवों के अन्दर विद्यमान है तथा वह इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् के बाहर भी है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सब प्रकृति आदि पदार्थों के बाह्य और आन्तरिक अवयवों को व्याप्त करके सब जीवों के

अन्तर्यामी रूप से सब पाप-पुण्य रूप कर्मों को जानता है; और ठीक-ठीक फल देता है । सब मनुष्य इसी ब्रह्म का ध्यान करें, इसी की उपासना करें; और इसी से डरते रहें ।।४०।५।।

***अन्यत्र व्याख्यात*—(क)**—यह मन्त्र महर्षि ने—'तदेजति' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदविषय-विचार प्रकरण में उपासना के प्रमाण में उद्धृत किया है ।।

(ख)—'तद् एजति' वह परमात्मा सब जगत् को अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है, सो अविद्वान् लोग ईश्वर में भी आरोप करते हैं कि वह भी चलता होगा, परन्तु वह सब में पूर्ण है, कभी चलायमान नहीं होता। अतएव 'तन्नैजति' (यह प्रमाण है) । स्वत: वह परमात्मा कभी नहीं चलता, एकरस निश्चल होके भरा है । विद्वान् लोग इसी रीति से ब्रह्म को जानते हैं ।

'तद् दूरे'—अधर्मात्मा, अविद्वान्, विचारशून्य अजितेन्द्रिय, ईश्वर भक्ति रहित इत्यादि दोषयुक्त मनुष्यों से वह ईश्वर बहुत दूर है; अर्थात् वे कोटि-कोटि वर्ष तक उसको नहीं प्राप्त होते । इससे वे तब तक जन्म मरणादि दु:खसागर में इधर-उधर घूमते फिरते हैं कि जब तक उसको नहीं जानते। 'तद्वन्तिके'=वह सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक विद्वान् विचारशील पुरुषों के 'अन्तिक' अत्यन्त निकट है ।

किं च—वह सब के आत्माओं के बीच में अन्तर्यामी, व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है । वह आत्मा का भी आत्मा है; क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके विना खाली नहीं है । वह अखण्डैकरस, सब में व्यापक हो रहा है । उसी को जानने से सुख और मुक्ति होती है; अन्यथा नहीं ।

(आर्याभिविनय २।१२) ।।

(ग) "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:" वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है । (वेदविरुद्धमतखण्डन) ।।४०।५।।

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के पञ्चम मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

(क) "मन्त्रों को आलस नहीं होता, अत: पहले मन्त्र द्वारा कहे हुए अर्थ को ही फिर कहते हैं ।"[१]

१—"न मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह ।"

(ख) "वह आत्मतत्त्व, जिसका प्रकरण है, चलता है, वही स्वयं नहीं भी चलता । अर्थात् स्वयम् अचल रहकर ही चलता हुआ सा जान पड़ता है ।"[१]

(ग) "वही अन्तिक अत्यन्त समीप भी है । विद्वानों का आत्मा होने के कारण न केवल दूर है, अपितु समीप है । वह इस सब के अन्तर यानी भीतर भी है ।"[२]

समीक्षा—'मन्त्रा मननात्' (यास्कः) मनन करने के कारण ये मन्त्र कहलाते हैं । अथवा 'मत्रि गुप्तभाषणे' धातु से 'मन्त्र' शब्द बनता है । जिससे स्पष्ट है कि मन्त्रों में रहस्यात्मक बातें होती हैं, जिन पर बहुत ही गम्भीरता से विचार करना चाहिए । और मन्त्रों में परमेश्वर का ज्ञान है, उनमें पिष्ट-पेषण कैसे सम्भव है ? पूर्व-मन्त्र से इस मन्त्र में अनेक विशेष बातें कही हैं । केवल 'अनेजत्' या 'एजति' देखकर ही पुनरुक्त नहीं कहना चाहिए ।

परब्रह्म चलता है और नहीं भी चलता है, यहां विरोधाभासालङ्कार है । इस विरोधाभास का श्री शङ्कराचार्य जी ने कोई समाधान नहीं किया। यदि ब्रह्म अचल है तो चलता हुआ सा कैसे प्रतीत होता है ? यह पाठक को भ्रम ही बना रहता है । महर्षि दयानन्द ने इसका बहुत ही उत्तम समाधान किया है—'एजति कम्पते=चलति मूढदृष्ट्या' अर्थात् मूढ़ों की दृष्टि से ब्रह्म चलता हुआ प्रतीत होता है, वास्तव में नहीं ।' अथवा 'आर्याभिविनय' पुस्तक में 'एजति' पद में अन्तर्भावित णिच् मानकर यह अर्थ किया है—"परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है ।"

और मन्त्र में कहा है कि वह परब्रह्म इस सब के अन्दर और बाहर भी है । जब परब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं तो वह किसके अन्दर और किसके बाहर है ? अतः इससे अद्वैतमत का खण्डन ही होता है।

(क) श्री उव्वट ने इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है—

"तदेजति"=तदेव सर्वप्राणिरूपेणावस्थितं सत् एजति, कम्पवद् भवति,

---

१—"तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति, तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सन् चलतीवेत्यर्थः ।"

२—"तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च । तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य ।" (ईशावा० मं० ५ । शा० भा०)

क्रियावद् भवति । तन्नैजति=तदेव च न चलति स्थावररूपावस्थितं सत्।" (अर्थ) वह ब्रह्म सब प्राणियों के रूप में अवस्थित होकर चलता है, कम्पनशील होता है, क्रियावान् हो रहा है, और वही ब्रह्म स्थावर=वृक्षादि रूप में अवस्थित होकर नहीं चलता है ।

समीक्षा—यहां श्री उव्वट ने ब्रह्म के दो रूप स्वीकार किए हैं। एक—ब्रह्म प्राणीरूप में चल रहा है । दूसरा—ब्रह्म स्थावर (वृक्ष-पर्वतादि) रूप में नहीं चलता । अर्थात् ब्रह्म चेतन और जड़ दोनों रूपों में है । किन्तु जड़-चेतन दोनों ऐसे परस्पर विरोधी गुण हैं, जो एक ब्रह्म में कदापि नहीं रह सकते और नहीं ऐसा कोई दृष्टान्त है, जिसमें ये परस्पर विरोधी गुण मिलते हों । वृक्षादि में कम्पन होता है । पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि भी गतिशील हैं । ऐसी दशा में 'तन्नैजति' का क्या अभिप्राय होगा ? इसलिए श्री उव्वटकृत अर्थ दोषयुक्त होने से मान्य नहीं हो सकता ।

(ख) श्री उव्वट 'तद् दूरे तद्वन्तिके' की व्याख्या में लिखते हैं—

"तद् दूरे तदेव च दूरे आदित्यनक्षत्रादिरूपेणावस्थितम् ।···तदेव चान्तिके पृथिव्यादिरूपेणावस्थितम् ।" (अर्थ) वह ब्रह्म आदित्य (सूर्य) नक्षत्रादि रूप में अवस्थित होने से दूर है और पृथिवी आदि रूप में अवस्थित वह ब्रह्म समीप भी है ।

समीक्षा—यहां श्री उव्वट ने अखण्ड और सर्वव्यापक ब्रह्म को खण्ड-खण्ड और एकदेशी मान लिया है । ब्रह्म का एक खण्ड आदित्य (सूर्य), एक खण्ड नक्षत्र तथा एक खण्ड पृथिवी आदि है । यह कैसी विचित्र व्याख्या है । जिस ब्रह्म को 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्०' (ईशा०) मन्त्र में सर्वव्यापी, शरीरादि से रहित तथा अक्षत=अखण्ड बताया है, उसी को खण्ड-खण्ड कर दिया है । और यह खण्ड हुआ ब्रह्म किससे दूर तथा समीप है ? इस पर कोई विचार नहीं किया । 'यदि वह ब्रह्म जीव से दूर या समीप है, तो जीव-ब्रह्म की पृथक्ता सिद्ध होती है ।' अतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का सिद्धान्त मानने वालों को यहां परस्पर विरोधी व्याख्या को देखकर लेशमात्र भी बोध नहीं हुआ । मन्त्र के अन्तिम भाग में कहा है—

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।' अर्थात् वह ब्रह्म इस जगत् के अन्दर और बाहर भी है । यहां मन्त्रपठित 'अस्य' पद का श्री शङ्कराचार्य जी को 'सर्वस्य जगतः' अर्थ करना ही पड़ा । जगत् की सत्ता

मानकर अद्वैतवाद कहां रह गया? यथार्थ में मन्त्र के अनुसार त्रैतवाद स्पष्ट रूप से सिद्ध है—ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, इस जगत् के कहने से अचेतन प्रकृति के कार्य भूत जगत् की सत्ता है, और मूढ़ तथा विद्वान् जीवों की दृष्टि से वह ब्रह्म दूर या समीप कहलाता है । अतः ब्रह्म से भिन्न जीवों की सत्ता को स्पष्ट रूप से माना है । अतः श्री उव्वटादि मन्त्र के रहस्य को न समझ कर सत्यार्थ से बहुत दूर ही चले गये हैं ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथेश्वरविषयमाह ।।

अब ईश्वर-विषयक उपदेश किया जाता है ।।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ।।६।।

***पदार्थः—*(यः)** विद्वान् जनः **(तु)** पुनरर्थे **(सर्वाणि)** अखिलानि **(भूतानि)** प्राण्यप्राणि-रूपाणि **(आत्मन्)** परमात्मनि **(एव)** अनुपश्यति) विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं समीक्षते **(सर्वभूतेषु)** सर्वेषु प्रकृत्यादिषु **(च) (आत्मानम्)** अतति=सर्वत्र व्याप्नोति तम् **(ततः)** तदनन्तरम् **(न) (वि) (चिकित्सति)** संशयं प्राप्नोति ।।६।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! य आत्मन्नेव सर्वाणि भूतान्यनुपश्यति, यस्तु सर्वभूतेष्वात्मानं च समीक्षते, स ततो न विचिकित्सतीति यूयं विजानीत ।।६।।

***सपदार्थान्वयः—* हे मनुष्याः** ! **यः** विद्वान् जनः **आत्मन्** परमात्मनि **एव सर्वाणि** अखिलानि **भूतानि** प्राण्यप्राणिरूपाणि **अनु+पश्यति** विद्याधर्मयोगाभ्यासानन्तरं समीक्षते ।

यः विद्वान् जनः **तु** पुनः **सर्वभूतेषु** सर्वेषु प्रकृत्यादिषु **आत्मानम्** अतति=सर्वत्र व्याप्नोति तं **च समीक्षते स ततः** तदनन्तरं **न वि+चिकित्सति**

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् जन (आत्मन्) परमात्मा में ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) जड़ चेतनों को (अनुपश्यति) विद्या, धर्माचरण और योगाभ्यास के पश्चात् देखता है ।

(यः तु) और जो विद्वान् (सर्वभूतेषु) सब प्रकृत्यादि पदार्थों में (आत्मानम्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा को देखता है, वह (ततः)

संशयं प्राप्नोति **इति यूयं विजानीत** ।।४०।६।।

ऐसे सम्यग्दर्शन के पीछे (न, विचिकित्सति) सर्वथा सन्देह को प्राप्त नहीं होता, ऐसा तुम जानो ।।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! ये सर्वव्यापिनं, न्यायकारिणं, सर्वज्ञं, सनातनं, सर्वात्मानं सर्वस्य द्रष्टारं परमात्मानं विदित्वा, सुख-दुःख-हानि-लाभेषु स्वाऽऽत्मवत् सर्वाणि भूतानि विज्ञाय, धार्मिका जायन्ते, त एव मोक्षमश्नुवते ।।४०।।६।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो लोग सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सर्वात्मा सब के द्रष्टा परमात्मा को जानकर; सुख-दुःख और हानि-लाभ में अपने आत्मा के समान सब प्राणियों को समझकर, धार्मिक बनते हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।।४०।६।।

भा० पदार्थः—आत्मनि=सर्वस्य द्रष्टरि परमात्मनि । न विचिकित्सति=धार्मिको जायते, मोक्षमश्नुते ।।४०।६।।

भाष्यसार—ईश्वर-विषयक उपदेश—जो विद्वान् मनुष्य—परमात्मा में सब प्राणी=चेतन और अप्राणी=जड़रूप भूतों को विद्या, धर्म और योगाभ्यास के उपरान्त भली-भांति देखता है; तथा सब प्रकृति आदि पदार्थों में परमात्मा को व्यापक रूप में देखता है । तात्पर्य यह है कि परमात्मा को सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वज्ञ, सनातन, सर्वात्मा और सब का द्रष्टा समझता है; सुख-दुःख और हानि-लाभ में अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणियों को जानता है; संशय को प्राप्त नहीं होता । वह सन्देह-रहित हो जाता है । वह धार्मिक बन जाता है और मोक्ष को प्राप्त करता है ।।४०।६।।

अन्यत्र व्याख्यात—**(यः)** जो संन्यासी **(तु)** पुनः **(आत्मन्नेव)** आत्मा में अर्थात् परमेश्वर ही में तथा अपने आत्मा के तुल्य **(सर्वाणि भूतानि)** सम्पूर्ण जीव और जगत्स्थ पदार्थों को **(अनुपश्यति)** अनुकूलता से देखता है; **(च)** और **(सर्वभूतेषु)** सम्पूर्ण प्राणी, अप्राणियों में **(आत्मानम्)** परमात्मा को देखता है; **(ततः)** इस कारण वह किसी व्यवहार में **(न विचिकित्सति)** संशय को प्राप्त नहीं होता अर्थात् परमेश्वर को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वसाक्षी जान के अपने आत्मा के तुल्य सब प्राणिमात्र को हानि-लाभ, सुख-दुःखादि व्यवस्था में देखे, वही उत्तम संन्यास धर्म को प्राप्त होता है ।।४०।६।। (संस्कारविधि, संन्यासप्रकरण)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषद् तथा यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के मन्त्रों में कहीं कहीं पाठभेद है । छठे मन्त्र में 'विचिकित्सति' के स्थान पर ईशावास्योपनिषद् में 'विजुगुप्सते' पाठ है । दोनों पदों के अर्थों में विशेष अन्तर नहीं है । विचिकित्सति=संशयं प्राप्नोति, विजुगुप्सते=निन्दित होता है या घृणा करता है । जो परमात्मा को सर्वत्र सर्वभूतों में देखता है, ऐसा योगी या मुमुक्षु संशय को प्राप्त नहीं होता अथवा निन्दित नहीं होता अथवा किसी से घृणा नहीं करता ।

इस मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"जो परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है, और उन्हें आत्मा से पृथक् नहीं देखता तथा उन सम्पूर्ण भूतों में भी आत्मा को देखता है, अर्थात् उन भूतों के आत्मा को भी अपना ही आत्मा जानता है । और यह समझता है कि जिस प्रकार मैं इस देह के कार्य और कारण सङ्घात का आत्मा और इसकी समस्त प्रतीतियों का साक्षी चेतयिता, केवल और निर्गुण हूं उसी प्रकार अपने इसी रूप से अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों का आत्मा भी मैं ही हूं । इस प्रकार जो सब भूतों में अपने निर्विशेष आत्मस्वरूप को ही देखता है ।"[१]

मन्त्रार्थ बहुत सरल तथा सुगम है । उपासक योगी जब परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है, तब सर्वव्यापी परमात्मा के स्वरूप को समझ लेता है । उस समय परमात्मा को सब प्राणी या अप्राणियों में, और सब भूतों में परमात्मा को देख लेता है, तब वह निन्दित कार्यों से अथवा संशय से मुक्त हो जाता है । किन्तु इस मूल मन्त्रार्थ से भिन्न जो बातें हैं, वे भी शङ्कराचार्य जी की काल्पनिक होने से अप्रामाणिक ही हैं। जैसे प्रकरण परमात्मा का है, वहां जीवात्मा परक अर्थ उचित नहीं है । 'आत्मा' शब्द से 'परब्रह्म' ही लेना चाहिए । और 'अनुपश्यति' क्रिया का कर्त्ता योगी या मुमुक्षु उस परब्रह्म से पृथक् है । अन्य प्राणियों के

(१) "यः परिव्राट् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि आत्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः, सर्वभूतेषु च तेष्वेव चात्मानं तेषाम् अपि भूतानां स्वमात्मानम् आत्मत्वेन यथास्य देहस्य कार्यकारणसङ्घातस्यात्मा अहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतश्चेतयिता केवलो निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति ।" (ईशावा० मं० ६। शा० भा०)

आत्मा को अपना ही आत्मा जानना या समस्त भूतों का आत्मा स्वयं को समझना अज्ञानता है । अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त जितने भी जगत् में पदार्थ हैं, वे सब अचेतन हैं, उनमें परब्रह्म तो व्यापक भाव से है, किन्तु उनमें जीवात्मा नहीं है । फिर उनके आत्मा को अपना आत्मा जानना, अज्ञान नहीं तो क्या है ? और प्राणियों के आत्मा को भी अपना आत्मा नहीं कहा जा सकता क्योंकि सब के आत्मा भिन्न-भिन्न हैं । इसीलिए दूसरे के देखे सुने का अनुस्मरण दूसरे को नहीं होता । यथार्थ ज्ञान को ही विद्या कहते हैं । अचेतन को चेतन, सर्वव्यापक को परिच्छिन्न, परिच्छिन्न को व्यापक तथा सर्वज्ञ को अल्पज्ञ और अल्पज्ञ को सर्वज्ञ समझना अज्ञान ही है । यथार्थ में इस प्रकार खैंचातानी से अद्वैतवाद सिद्ध नहीं हो सकता । सर्वव्यापक परमात्मा, उसको उपासकभाव से जानने वाला जीवात्मा और अव्यक्त प्रकृति से बने स्थावरान्त पदार्थ अचेतन, ये सब त्रैतवाद की ही पुष्टि करते हैं ।

श्री उव्वट ने इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है—"यः पुनः सर्वाणि भूतानि=चेतनाचेतनानि आत्मन्नेवानुपश्यति । मय्येव सर्वाणि भूतान्यवस्थितानि न मद्व्यतिरिक्तानि । अहमेव परं ब्रह्मेति । सर्वभूतेषु चात्मानम् अवस्थितं तद्व्यतिरिक्तं पश्यति, ततो न विचिकित्सति=न संशेते ।।" (अर्थ) जो सब चेतन और अचेतन भूतों को आत्मा (ब्रह्म) में ही देखता है । मुझ में ही सब भूत अवस्थित हैं मुझ से भिन्न नहीं, मैं ही परब्रह्म हूं और सब भूतों में आत्मा (ब्रह्म) को अवस्थित देखता है, अर्थात् उन से भिन्न समझता है, फिर वह संशयरहित हो जाता है ।

समीक्षा—यहां श्री उव्वट ने 'भूतानि' पद से चेतन अर्थात् प्राणी और अचेतन=पृथिवी आदि जड़ जगत् का ग्रहण किया है यह तो ठीक किया है । किन्तु 'आत्मन्नेवानुपश्यति' की जो यह व्याख्या की है कि सब जड़-चेतन (भूत) मुझ में ही अवस्थित हैं यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है । सब जड़-चेतनभूत किसी भी व्यक्ति में स्थित नहीं हैं। यदि व्याख्याता का अभिप्राय ब्रह्म से है तो भी व्याख्या दोषपूर्ण है । जड़-चेतन जगत् ब्रह्म के आश्रित तो है, किन्तु उससे भिन्न न मानना दुराग्रह मात्र ही है । प्रथम तो चेतन-अचेतन दोनों विरोधी धर्म एक वस्तु के (ब्रह्म के) ही धर्म नहीं हो सकते और अचेतन यदि ब्रह्म का गुण है तो क्या ब्रह्म अचेतन भी है ? यह एक नया प्रश्न उत्पन्न हो जायेगा।

जो स्वयम् अद्वैतवादी भी ब्रह्म को अचेतन मानने के लिए तैयार नहीं हैं। 'मैं ही परब्रह्म हूं' यह मन्त्रगत किसी पद की तो व्याख्या नहीं है, केवल अपनी कल्पित व्याख्या है ।

और श्री उव्वट आगे लिखते हैं—"सब भूतों में आत्मा (ब्रह्म) को अवस्थित देखता है अर्थात् उनसे भिन्न समझता है ।" क्या यह परस्पर विरोधी व्याख्या नहीं है ? प्रथम लिखा है कि सब भूत ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं और अब उनको भिन्न लिखना असङ्गत व्याख्या ही है । यथार्थ सत्य-मन्त्रार्थ को कहां तक छिपाते ? सत्य अर्थ कहते तो अपना मिथ्याग्रह खण्डित हो जाता, इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध व्याख्या तो की, किन्तु मिथ्याग्रह को नहीं छोड़ सके । यह विद्वानों को कदापि शोभा नहीं देता ।

श्री महीधर ने इस मन्त्र के 'विचिकित्सति' पद की व्याख्या में 'कित रोगापनयने संशये च' धातु से "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" सूत्र से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय माना है । यहां श्री महीधर ने अशुद्ध धातुपाठ उद्धृत किया है । पाणिनीय धातुपाठ में 'कित निवासे रोगापनयने च' पाठ है । यह श्री महीधर की भ्रान्ति ही है । शुद्ध 'कित' धातु का संशय अर्थ में प्रयोग नहीं होता । 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते' इस के अनुसार विपूर्वक 'कित्' धातु का प्रयोग संशय अर्थ में होता है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथ केऽविद्यादिदोषान् जहतीत्याह ॥

अब कौन अविद्यादि दोषों को छोड़ते हैं, यह उपदेश किया जाता है।।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

पदार्थः—(**यस्मिन्**) परमात्मनि ज्ञाने विज्ञाने धर्मे वा (**सर्वाणि**) (**भूतानि**) (**आत्मा**) आत्मवत् (**एव**) (**अभूत्**) भवन्ति । अत्र वचनव्यत्ययेनैकवचनम् । (**विजानतः**) विशेषेण समीक्षमाणस्य (**तत्र**) तस्मिन् परमात्मनि स्थितस्य (**कः**) (**मोहः**) मूढावस्था (**कः**) (**शोकः**) परितापः (**एकत्वम्**) परमात्मनेऽद्वितीयत्वम् (**अनुपश्यतः**) अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद्द्रष्टुः ।।७।।

प्रमाणार्थ—(**अभूत्**) भवन्ति । यहां वचन-व्यत्यय से बहुवचन

के स्थान में एकवचन है ।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यस्मिन् परमात्मनि विजानतः सर्वाणि भूता-न्यात्मैवाभूत् तत्रैकत्वमनुपश्यतो योगिनः को मोहोऽभूत्कः शोकश्च ।।७।।

सपदार्थान्वयः— हे **मनुष्याः ! यस्मिन्**=**परमात्मनि** परमात्मनि ज्ञाने विज्ञाने धर्मे वा **विजानतः** विशेषेण समीक्षमाणस्य **सर्वाणि भूतान्यात्मा** आत्मवत् **एवा-भूत्** भवन्ति; **तत्र** तस्मिन् परमात्मनि स्थितस्य **एकत्वं** परमात्मनो-ऽद्वितीयत्वम् **अनुपश्यतः**=**योगिनः** अनुकूलेन योगाभ्यासेन साक्षाद्द्रष्टुः **को मोहः** मूढावस्था **अभूत्** भवति, **कः शोकः** परितापः **च** ।।४०।७।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान, अथवा धर्म के विषय में (विजानतः) सम्यग्ज्ञाता जन के लिए (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (आत्मा) अपने आत्मा के समान (एव) ही (अभूत्) होते हैं; (तत्र) उस परमात्मा में विराजमान, (एकत्वम्) परमात्मा के एकत्व को (अनुपश्यतः) ठीक-ठीक योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् देखने वाले योगी जन को (कः) क्या (मोहः) मोह और (कः) क्या (शोकः) क्लेश (अभूत्) होता है ।।४०७।।

भावार्थः— ये विद्वांसः संन्यासिनः परमात्मना सहचरितानि प्राणिजातानि स्वात्मवद्विजानन्ति, यथा स्वाऽऽत्मनो हितमिच्छन्ति तथैव तेषु वर्त्तन्ते; एकमेवाऽद्वितीयं परमात्मनः शरणमुपागताः सन्ति, तान् मोह-शोकलोभादयो दोषाः कदाचिन्ना-ऽऽप्नुवन्ति ।

भावार्थः—जो विद्वान् संन्यासी लोग परमात्मा के सहचारी प्राणीमात्र को अपने आत्मा के समान समझते हैं, अर्थात् जैसे अपना हित चाहते हैं वैसे अन्य प्राणियों के साथ वर्ताव करते हैं; एक (अद्वितीय) परमात्मा की शरण को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें मोह, शोक, लोभ आदि दोष कभी भी प्राप्त नहीं होते।

ये च स्वाऽऽत्मानं यथावद् विज्ञाय परमात्मानं विदन्ति, ते सदा सुखिनो भवन्ति ।।४०।७।।

और जो अपने आत्मा को ठीक-ठीक जानकर परमात्मा को जानते हैं; वे सदा सुखी रहते हैं।।४०।७।।

भा० पदार्थः—भूतानि=परमात्मना सह चरितानि प्राणिजातानि । एकम्=अद्वितीयम् ।।७।।

***भाष्यसार*—कौन अविद्यादि दोषों को छोड़ते हैं**—परमात्मा, ज्ञान, विज्ञान वा धर्म के विषय में विशेष रूप से जानने वाले विद्वानों के लिए सब प्राणी अपने आत्मा के समान हो जाते हैं । वे विद्वान् संन्यासी परमात्मा के साथ विद्यमान सब प्राणियों को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं । जैसे अपने आत्मा का हित चाहते हैं वैसे ही वे सब के प्रति व्यवहार करते हैं । वे एक (अद्वितीय) परमात्मा की शरण को प्राप्त हो चुके होते हैं । **परमात्मा में स्थित, योगाभ्यास से परमात्मा को साक्षात् देखने वाले योगी लोगों को अविद्यादि दोष प्राप्त नहीं होते ।** वे मोह, शोक, लोभादि दोषों को छोड़ देते हैं । वे अपने आत्मा को यथावत् जानकर परमात्मा को जान लेते हैं और सदा सुखी रहते हैं ।।४०।७।।

***अन्यत्र व्याख्यात*—**(विजानतः) विज्ञानयुक्त संन्यासी का (यस्मिन्) जिस पक्षपातरहित धर्मयुक्त संन्यास में (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणीमात्र (आत्मैव) आत्मा ही के तुल्य जानना अर्थात् जैसा अपना आत्मा अपने को प्रिय है, उसी प्रकार का निश्चय (अभूत्) होता है (तत्र) उस संन्यासाश्रम में (एकत्वमनुपश्यतः) आत्मा के एक भाव को देखने वाले संन्यासी को (को मोहः) कौन सा मोह और (कः शोकः) कौन सा शोक होता है; अर्थात् न उसको किसी से कभी मोह और न शोक होता है । इसलिए संन्यासी मोह, शोकादि दोषों से रहित होकर सदा सब का उपकार करता रहे ।।४०।७।। (संस्कारविधि, संन्यासाश्रमप्रकरण)

समीक्षा—श्री पं० आर्यमुनि जी ने इस मन्त्र की व्याख्या में अद्वैतवाद की समीक्षा करते हुए लिखा है—"मायावादी इस मन्त्र का जप अहर्निश करते हैं और शाङ्कर-भाष्य में जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध करने के लिए यह मन्त्र सहस्रों स्थानों में लिखा गया है । अधिक क्या, जीव-ब्रह्म को एक बनाने के लिए एकमात्र यही मन्त्र इनके पास है । जिसका ये यों बलपूर्वक भाष्य करते हैं—कोई कहता है..."मूलाविद्यानिवृत्तौ तत्कार्ययोः शोकमोहयोरात्यन्तिकाऽभावादिति भावः ।" मूल अविद्या के निवृत्त होने पर इसके कार्य शोक, मोहादिकों का भी अत्यन्ताभाव हो जाता है । इनके मत में ब्रह्म को आच्छादन करने वाली अविद्या का नाम 'मूलाऽविद्या' है । कोई कहता है कि—यह सारा संसार रज्जु-सर्पवत् भ्रान्ति रूप प्रतीत होता है, भ्रान्ति दूर होने पर शोक-मोह की निवृत्ति हो जाती है इत्यादि । मायावादियों के अनेक मत हैं, पर सब का तत्त्व यही

है कि शोक-मोह की निवृत्ति जीवब्रह्म के एकत्व ज्ञान से ही होती है, अन्यथा नहीं । परन्तु जीव-ब्रह्म की एकता का भाव इस मन्त्र में गन्धमात्र भी नहीं है ।" (उपनिषदार्यभाष्य पृ० ७)

इस मन्त्र में शोक मोहादि के दूर करने के दो उपाय बताए हैं-(१) अपने आत्मा के समान सब प्राणियों की भलाई चाहना । (२) और एक अद्वितीय परमात्मा की शरण को प्राप्त करना । श्री शङ्कराचार्य जी ने इस मन्त्र की व्याख्या में लिखा है-(क) "जिस समय अथवा जिस पूर्वोक्त आत्मस्वरूप परमार्थ तत्त्व को जानने वाले पुरुष की दृष्टि में वे ही सब भूत परमार्थ आत्मस्वरूप के दर्शन से आत्मा ही हो गए अर्थात् आत्मभाव को ही प्राप्त हो गए, उस समय अथवा उस आत्मा में क्या मोह और क्या शोक रह सकता है ?"[१]

(ख) "शोक और मोह तो कामना और कर्म के बीज को न जानने वाले को ही हुआ करते हैं, जो आकाश के समान आत्मा का विशुद्ध एकत्व देखने वाला है, उसको नहीं होते ।"[२]

(ग) "क्या मोह और क्या शोक ? इस प्रकार अविद्या के कार्यस्वरूप शोक और मोह की आक्षेपरूप असम्भवता दिखलाकर कारणसहित संसार का अत्यन्त ही उच्छेद प्रदर्शित किया गया है ।"[३]

शोक मोह का कारण अविद्या है । 'यह मेरा है,' इस भावना के बढ़ने से पुत्रादि के प्रति मोह पैदा होता है, और उसके वियोग होने पर शोक होता है । किन्तु जब योगी को परमात्मदर्शन होने पर यह बोध हो जाता है कि ये पिता-पुत्रादि के सम्बन्ध सांसारिक ही हैं और संसार के पदार्थों का एकमात्र स्वामी परब्रह्म ही है तो उसका मोह तथा तत्पश्चात् शोक भी क्रमशः दूर हो जाता है ।

यदि श्री शङ्कराचार्य जी की व्याख्या को मानकर अर्थ किया जाए तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न होता है कि जिसकी अविद्या

(१) "यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूद् आत्मैव संवृतः परमार्थवस्तु विजानतः, तत्र तस्मिन् काले तत्रात्मनि वा को मोहः कः शोकः ।"(ईशावा० मं० ७। शा० भा०)

(२) "शोकश्च मोहश्च कार्यं कर्मबीजम् अजानतो भवति, न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः ।"

(३)"को मोहः कः शोक इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेण असम्भवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ।।" (ईशावा० मं० ७। शा० भा०)

दूर हुई है, उसी की आत्मा परमात्मा रूप हो जाए, यह तो माना भी जा सकता था, किन्तु मन्त्र में तो 'सर्वाणि भूतानि' कहा है । परब्रह्म को जानने वाला एक है, उसकी दृष्टि में सब भूत (प्राणी) परमात्मा ही हो जाएं, यह बात बुद्धिसङ्गत कदापि नहीं हो सकती । ऐसा मानने पर 'अकृताभ्यागम' दोष आ जायेगा । अर्थात् किया किसी एक ने और उसका फल सब भूतों (प्राणियों) को मिल जाए, यह कैसे सम्भव है? अतः श्री शङ्कराचार्य जी को मन्त्रार्थ के समझने में बड़ी भूल हुई है ।

मन्त्र का वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—जैसे किसी ने 'अदेवदत्तं देवदत्तमित्याह' जो देवदत्त नहीं है, उसको दूर से देवदत्त की कुछ समानता देखकर 'देवदत्त' कहकर पुकारा । उससे यही बात समझ में आती है—'देवदत्तवदयम्' यह देवदत्त के तुल्य है । इसी प्रकार यहां मन्त्र में कहा है 'जिस आत्मस्वरूप के जानने पर जानने वाले की दृष्टि में सब भूत (प्राणी) आत्मा ही हो गए हैं ।' यहां आत्मवत्=आत्मा के समान हो गए हैं । अर्थात् वह दूसरों के सुख-दुःखादि को अपने समान समझने लगता है, यही अर्थ उपयुक्त तथा सङ्गत होता है । क्योंकि सब ही भूत आत्मा हो जाएं, और बोध किसी एक को है, यह बुद्धिविरुद्ध बात है । और सब भूतों में भिन्न-भिन्न आत्माएं कार्य कर रही हैं, वे सब एक हो भी कैसे सकती हैं ? कुछ तो उनमें कार्यकरण भाव होना चाहिए ।

श्रीशङ्कराचार्य जी का यह कथन भी सत्य नहीं है कि कामना और कर्म बीज को न जानने वाले को शोक व मोह होते हैं । कामना का कारण अविद्या है, यह तो ठीक है, कि कर्म के कारण से क्या अभिप्राय है ? कर्म तो शुभाशुभ भेद से दो प्रकार के हैं । क्या निष्कामभाव से किए गए शुभ कर्म भी शोक-मोह का कारण हो सकते हैं ? यथार्थ में यह बात न तो मन्त्र में ही कही और नहीं उचित ही है । परमात्मज्ञान होने पर व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है, यह वेद की मान्यता नहीं, अद्वैतवादियों की हो सकती है, क्योंकि वे ज्ञान और कर्म में पर्वतवद् अटल विरोध समझते हैं । वेद में तो स्पष्ट रूप से कहा है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' । अर्थात् जब तक जीवित रहे निष्क्रिय न बैठे, कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे । अतः वैदिकमान्यता में ज्ञान व कर्म में परस्पर कोई विरोध नहीं है ।

श्री शङ्कराचार्य जी के भाष्य से कितनी बड़ी भ्रान्ति होती है कि

अविद्या के कार्य शोक-मोह के दूर होने पर "कारण सहित संसार का अत्यन्त ही उच्छेद हो जाता है ।" कारण के नष्ट होने से कार्य भी नष्ट हो जाता है, यह दर्शन का एक अटल नियम है । शोक-मोह का कारण अविद्या है, अविद्या के समाप्त होने पर शोक-मोह दूर हो जाएं, यह ठीक है । किन्तु कारणसहित संसार का उच्छेद कैसे होगा ? इस संसार का कारण तो मूल प्रकृति है । उसके महत्तत्वादि कार्य हैं । कुछ तो इनमें कारण कार्य भाव देखना चाहिए । केवल अपनी मिथ्या मान्यता के वशीभूत होकर ऐसी निराधार बातें लिखना या मानना क्या विद्वानों को शोभा दे सकती हैं ।

मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा—'एकत्वमनुपश्यतः' अर्थात् एक (अद्वितीय) ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले को क्या मोह और क्या शोक होता है? इसमें कहां कहा गया है कि जीव ब्रह्म की एकता हो जाने पर जो देख रहा है, और जिसको देख रहा है, वे द्रष्टा-दृश्य दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अतः अद्वैतवादियों का यह मूलमन्त्र उनकी मिथ्यामान्यता का प्रतिपादक कदापि नहीं हो सकता । इससे तो अद्वैतवाद का स्पष्ट खण्डन ही होता है । और इससे अगले ही मन्त्र में परब्रह्म के विशेषगुणों का वर्णन है, जिससे प्रकृति व जीवात्मा से परब्रह्म की पृथक्ता स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है । योगदर्शन में इसी 'एकत्वमनुपश्यतः' वाली योगी की दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—

तद्रा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (योग० १।३)

समाधि-दशा में पुरुष की परमात्मा के स्वरूप में स्थिति होती है एकता नहीं ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=परमात्मा । स्वराड्जगती । निषादः ॥

पुनः परमेश्वरः कीदृश इत्याह ॥

परमेश्वर कैसा है, यह फिर उपदेश किया है ॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

***पदार्थः*—(सः)** परमात्मा **(परि)** सर्वतः **(अगात्)** व्याप्तोऽस्ति

(शुक्रम्) आशुकरं=सर्वशक्तिमत् **(अकायम्)** स्थूलसूक्ष्मकारणशरीररहितम् **(अव्रणम्)** अच्छिद्रमच्छेद्यम् **(अस्नाविरम्)** नाड्यादिसम्बन्धबन्धरहितम् **(शुद्धम्)** अविद्यादिदोषरहितत्वात्सदा पवित्रम् **(अपापविद्धम्)** यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति तत् **(कविः)** सर्वज्ञ **(मनीषी)** सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता **(परिभूः)** यो दुष्टान् पापिनः परि भवति=तिरस्करोति सः **(स्वयम्भूः)** अनादिस्वरूपो, यस्य संयोगे-नोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो, मातापितरौ, गर्भवासो, जन्मवृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते **(याथातथ्यतः)** यथार्थतया **(अर्थान्)** वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान् **(वि)** विशेषेण **(अदधात्)** विधत्ते **(शाश्वतीभ्यः)** सनातनीभ्योऽनादिस्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यः ॥८॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यद्ब्रह्म शुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं पर्यगाद्यः कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः परमात्मा शाश्वतीभ्यः समाभ्यो याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् स एव युष्माभिरुपासनीयः ॥८॥

सपदार्थान्वयः— हे **मनुष्याः ! यद् ब्रह्म शुक्रम्** आशुकरं सर्वशक्तिमद् **अकायं** स्थूलसूक्ष्म-कारणशरीररहितम् **अव्रणम्** अच्छिद्र-मच्छेद्यम् **अस्नाविरं** नाड्यादि-सम्बन्धबन्धरहितं **शुद्धम्** अविद्यादि-दोषरहितत्वात्सदा पवित्रम् **अपापविद्धं** यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति तत् **परि+अगात्** सर्वतः व्याप्तोऽस्ति; **यः कविः** सर्वज्ञः **मनीषी** सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता **परिभूः** यो दुष्टान्=पापिनः परिभवति=तिरस्करोति सः **स्वयम्भूः**= परमात्मा अनादिस्वरूपो यस्य संयोगे-नोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो माता-पितरौ, गर्भवासो, जन्मवृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते **शाश्वतीभ्यः** सनातनीभ्योऽनादि-स्वरूपाभ्यः स्वस्वरूपेणोत्पत्ति-

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो ब्रह्म (शुक्रम्) शीघ्रकारी, सर्वशक्ति-मान् (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है, (अव्रणम्) छिद्र रहित एवं जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते, (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से रहित है, (शुद्धम्) अविद्या आदि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र है, (अपापविद्धम्) जो कभी भी पाप से युक्त, पाप करने वाला और पाप से प्रेम करने वाला नहीं है, वह (परि+अगात्) सर्वत्र व्यापक है; जो (कविः) सर्वज्ञ, (मनीषी) सब जीवों की मनोवृत्तियों को जानने वाला, (परिभूः) दुष्ट पापियों का तिरस्कार करने वाला, (स्वयम्भूः) अनादिस्वरूप वाला, जिसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग

विनाशरहिताभ्यः **समाभ्यः** प्रजाभ्यः **याथातथ्यतः** यथार्थतया **अर्थान्** वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान् **वि+अदधात्** विशेषेण विधत्ते । **सः** परमात्मा एव **युष्माभिरुपासनीयः** ।।४०।८।।

से विनाश नहीं होता, जिसके माता-पिता कोई नहीं और जिसका गर्भवास, जन्म, वृद्धि और क्षय नहीं होते हैं, वह परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन, अनादि स्वरूप वाली, अपने स्वरूप की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश से रहित (समाभ्यः) प्रजा के लिए (याथातथ्यतः) यथार्थता से (अर्थान्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (व्यदधात्) अच्छी तरह से उपदेश करता है । (सः) वह परमात्मा ही तुम्हारे लिए उपासना करने योग्य है ।।४०।८।।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! यद्यनन्तशक्तिमदजं, निरन्तरं, सदामुक्तं, न्यायकारिणं निर्मलं, सर्वज्ञं, सर्वस्य साक्षि, नियन्तृ, अनादिस्वरूपं ब्रह्म कल्पादौ जीवेभ्यः स्वोक्तैर्वेदैः शब्दार्थ-सम्बन्धविज्ञापिकां विद्यां नोपदिशेत्तर्हि कोऽपि विद्वान् न भवेत्; न च धर्मार्थकाममोक्षफलं प्राप्तुं शक्नुयात् । तस्मादिदमेव सदैवोपाध्वम् ।।४०।८।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! यदि अनन्त शक्तिशाली, अजन्मा, अखण्ड, सदा से मुक्त, न्यायकारी, पापरहित, सर्वज्ञ, सब का द्रष्टा, नियन्ता और अनादिस्वरूप वाला ब्रह्म सृष्टि के आदि में स्वयं प्रोक्त वेदों के द्वारा शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को बतलाने वाली विद्या का उपदेश न करे तो कोई भी विद्वान् न बन सके; और न धर्म, अर्थ काम, मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर सके। इसलिए इस ब्रह्म की उपासना सदा करो ।।४०।८।।

भा० पदार्थः—शुक्रम्=अनन्तशक्तिमत् (ब्रह्म) । अकायम्=अजम् (ब्रह्म) । अव्रणम्=निरन्तरं (अखण्डम्) । अस्नाविरम्=सदा मुक्तम् । शुद्धम्=निर्मलम् । अपापविद्धम्=न्यायकारि । मनीषी=सर्वस्य साक्षी । परिभूः=नियन्तृ । स्वयम्भूः=अनादिस्वरूपं (ब्रह्म) । समाभ्यः=जीवेभ्यः । अर्थान्=स्वोक्तैर्वेदैः शब्दार्थसम्बन्धविज्ञापिकां विद्याम् व्यदधात्=उपदिशेत्

ब्रह्म । सः=इदमेव ।।८।।

भाष्यसार—परमेश्वर कैसा है—जो ब्रह्म—शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित, छिद्र रहित एवं अखण्ड, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, अविद्यादि दोषों से रहित होने से सदा पवित्र या जो कभी पापयुक्त, पापकारी और पापप्रिय नहीं है; वह सर्वत्र व्यापक है । वह सर्वज्ञ, सब जीवों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता, दुष्ट पापी जनों का तिरस्कार करने वाला, स्वयम्भू अर्थात् अनादि है, उसकी संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता । उसके माता-पिता कोई नहीं । वह कभी गर्भवास नहीं करता । वह जन्म, वृद्धि और क्षय से रहित है ।

अनन्त शक्ति वाला, अज, निरन्तर, सदा मुक्त, न्यायकारी, निर्मल, सर्वज्ञ, सब का साक्षी, नियन्ता, अनादि स्वरूप ब्रह्म—सृष्टि के आदि में सनातन, अनादि स्वरूप, अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश से रहित जीवों के लिए यथार्थ रूप में वेद के द्वारा सब पदार्थों का उपदेश करता है । यदि ब्रह्म स्वयं प्रोक्त वेदों के द्वारा शब्द, अर्थ, सम्बन्ध की विज्ञापक विद्या का उपदेश न करे तो कोई भी मनुष्य विद्वान् न हो सके और न कोई धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप फल को प्राप्त कर सके । अतः सब मनुष्य मन्त्रोक्त ब्रह्म की ही उपासना करें ।।४०।८।।

अन्यत्र व्याख्यात—(क) 'स पर्यगाच्छु०' ।। ईश्वर की स्तुति—वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान् जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयं सिद्ध परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है । यह सगुण स्तुति अर्थात् जिस-जिस गुण सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण; (अकाय) अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता; इत्यादि जिस-जिस राग, द्वेषादि गुण से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है, वह निर्गुण स्तुति है । इससे अपने गुण, कर्म, स्वभाव भी करना, जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे, और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता है और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका

स्तुति करना व्यर्थ है ।। (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास)

(ख) स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य: (यजु० ४०।८) ।। जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है वह सनातन जीव रूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है । (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समु०)

(ग)—"शाश्वतीभ्य: समाभ्य:" (अर्थात् अनादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ।
(सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास)

(घ)—"अज एकपात्" "अकायम्" इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर को जन्म, मरण और शरीर धारण रहित वेदों में कहा है ।
(सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास)

(ङ)—"स पर्यगाच्छु०" जो परमेश्वर—(कवि:) सब का जानने वाला, (मनीषी) सब के मन का साक्षी, (परिभू:) सब के ऊपर विराजमान और (स्वयम्भू:) अनादि स्वरूप है, जो अपनी अनादि स्वरूप प्रजा को अन्तर्यामी रूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है । (स पर्यगात्) सो सब में व्यापक (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रम वाला, (अकायं) सब प्रकार के शरीर से रहित (अव्रणं) कटना और सब रोगों से रहित (अस्नाविरं) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (अपापविद्धं) सब पापों से न्यारा इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है; वही सब को उपासना के योग्य है । ऐसा ही सब को मानना चाहिए; क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीरधारण करके जन्म-मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया । इससे इसकी पत्थर आदि की मूर्ति बनाकर पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।
(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय)

(च)—"स, पर्यगात्" वह परमात्मा आकाश के समान सब जगह में परिपूर्ण (व्यापक) है, "शुक्रम्" सब जगत् का करने वाला वही है "अकायम्" और वह कभी शरीर (अवतार) नहीं धारण करता, क्योंकि वह अखण्ड और अनन्त, निर्विकार है, इससे देहधारण कभी नहीं करता, उससे अधिक कोई पदार्थ नहीं है, इससे ईश्वर का शरीर धारण करना कभी नहीं बन सकता । "अव्रणम्" वह अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है इससे अंशांशीभाव भी उसमें नहीं है, क्योंकि

उसमें छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता, "अस्नाविरम्" नाड़ी आदि का प्रतिबन्ध (निरोध) भी उसका नहीं हो सकता, अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आवरण नहीं हो सकता, "शुद्धम्" वह परमात्मा सदैव निर्मल अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृष्णादि दोषोपाधियों से रहित है, शुद्ध की उपासना करने वाला शुद्ध ही होता है और मलिन का उपासक मलिन ही होता है, "अपापविद्धम्" परमात्मा कभी अन्याय नहीं करता क्योंकि वह सदैव न्यायकारी ही है, "कविः" त्रैकालज्ञ (सर्ववित्) महाविद्वान् जिसकी विद्या का अन्त कोई कभी नहीं ले सकता, "मनीषी" सब जीवों के मन (विज्ञान) का साक्षी सब के मन का दमन करने वाला है, "परिभूः" सब दिशा और सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, सब के ऊपर विराजमान है, "स्वयम्भूः" जिसका आदिकारण माता, पिता, उत्पादक कोई नहीं किन्तु वही सब का आदिकारण है ।

"याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।" उस ईश्वर ने अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्यविद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परमहितार्थ उपदेश किया है । उस हमारे दयामय पिता परमेश्वर ने बड़ी कृपा से अविद्यान्धकार का नाशक, वेदविद्यारूप सूर्य प्रकाशित किया है और सब का आदिकारण परमात्मा है, ऐसा अवश्य मानना चाहिए । ऐसे विद्यापुस्तक का भी आदिकारण ईश्वर को ही निश्चित मानना चाहिए ।

विद्या का उपदेश ईश्वर ने अपनी कृपा से किया है, क्योंकि हम लोगों के लिए उसने सब पदार्थों का दान दिया है तो विद्यादान क्यों न करेगा ?

सर्वोत्कृष्ट विद्यापदार्थ का दान परमात्मा ने अवश्य किया है तो वेद के विना अन्य कोई पुस्तक संसार में ईश्वरोक्त नहीं है । जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है वैसा ही वेद पुस्तक भी है । अन्य कोई पुस्तक ईश्वरकृत वेदतुल्य वा अधिक नहीं है ।

अधिक विचार इस विषय का "सत्यार्थप्रकाश" और "ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका" मेरे किये ग्रन्थों में देख लेना । (आर्याभिविनय २।२)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के आठवें मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है । शङ्कराचार्य तथा स्वामी दयानन्द, दोनों के भाष्यों में परमात्मा के स्वरूप के विषय में प्रायः समानता है । जैसे—

मन्त्रगत पद	महर्षि दयानन्दकृत पदार्थ	श्रीशंकराचार्यकृत पदार्थ
सः	परमात्मा	आत्मा
पर्यगात्	सर्वतो व्याप्तोऽस्ति	समन्ताद् गतवान् आकाशवद् व्यापी
शुक्रम्	सर्वशक्तिमत्	शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमान्
अकायम्	स्थूलसूक्ष्मकारणशरीररहितम्	अशरीरो लिङ्गशरीरवर्जितः
अव्रणम्	अच्छिद्रमछेद्यम्	अक्षतम्
अस्नाविरम्	नाड्यादिसम्बन्धरहितम्	स्नावाः शिरा यस्मिन् विद्यन्ते, अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः ।
शुद्धम्	अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदा पवित्रम्	निर्मलविद्यामलरहितम् इति कारणशरीरप्रतिषेधः
अपापविद्धम्	यत् पापयुक्तं पापकारि पापप्रियं कदाचिन्न भवति	धर्माधर्मादिपापवर्जितम्
कविः	सर्वज्ञः	क्रान्तदर्शी सर्वदृक्
मनीषी	सर्वेषां जीवानां मनोवृत्तीनां वेत्ता	मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर
परिभूः	यो दुष्टान् पापिनः परि-भवति तिरस्करोति	सर्वेषामुपरि भवति
स्वयम्भूः	अनादिस्वरूपः यस्य संयोगे-नोत्पत्तिर्वियोगेन विनाशो मातापितरौ गर्भवासो जन्म-वृद्धिक्षयौ च न विद्यन्ते ।	स्वयमेव भवति येषामुपरि भवति यश्चोपरि स सर्वः स्वयमेव भवति ।
याथातथ्यतः	यथार्थतया	यथाभूतकर्मफलसाधनतः
अर्थान्	वेदद्वारा सर्वान् पदार्थान्	कर्त्तव्यपदार्थान्
व्यदधात्	विशेषेण विधत्ते	विहितवान् यथानुरूपं व्यभजद्
शाश्वतीभ्यः	उत्पत्तिविनाशरहिताभ्यः	नित्याभ्यः
समाभ्यः	प्रजाभ्यः (जीवेभ्यः)	संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यः

उपर्युद्धृत दोनों भाष्यकारों के मत में परमात्मा सर्वत्र व्यापक, स्थूलादि त्रिविध शरीर रहित, अविद्यादि दोषों से रहित, सर्वशक्तिमान्,

प्रकाशस्वरूप, अच्छेद्य, सर्वविध पापों से शून्य, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, मनोवृत्तियों का ज्ञाता, पापकर्म करने वालों का शासक तथा अनादिस्वरूप अर्थात् उत्पत्तिविनाशरहित है । इस प्रकार परमात्मा के स्वरूप के विषय में दोनों के एकमत होते हुए भी शाङ्कर-भाष्य में निम्न-दोष तथा अद्वैतमत के प्रतिपादन में मिथ्याग्रह किया गया है–

मन्त्र में परमात्मा को अविद्यादि दोषरहित होने से 'शुद्ध' कहा है। विद्या और अविद्या का सम्बन्ध जीवात्मा से है, भौतिक शरीर से नहीं, किन्तु शाङ्कर-भाष्य में 'शुद्धम्' का अर्थ 'कारण शरीर रहित' किया है। तीनों प्रकार के शरीर प्रकृति के ही विकार होते हैं । विद्या ज्ञान को कहते हैं, इसका सम्बन्ध अचेतन शरीरों से कैसे सम्भव है । और 'अपापविद्धम्' का अर्थ 'धर्माधर्मादि पाप रहित' करना भी अनुचित है। क्योंकि अधर्म तो पाप है, इससे परमात्मा रहित है, किन्तु धर्म को पाप नहीं कहा जा सकता । 'पाप' शब्द का धर्म और अधर्म दोनों अर्थ कैसे सम्भव हैं? धर्म का श्री शङ्कराचार्य जी क्या स्वरूप मानते हैं, यहां यद्यपि स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु कोई भी विद्वान् धर्म शब्द को पापार्थ में प्रयोग नहीं कर सकता । यदि 'धारणाद् धर्म इत्याहु:' धर्म का अर्थ किया जाता है तो भी परमात्मा के लिए असङ्गत नहीं होता है, क्योंकि वह समस्त लोक-लोकान्तरों को धारण किए हुए है । सृष्टिरचना, स्थिति और प्रलय करना परमात्मा के धर्म हैं । वह जीवों की भलाई के लिए सृष्टि-रचना करता है, यह उपकार करना धर्म है । उसने जीवों के लिए वेद का उपदेश दिया और वह कर्मानुसार फल प्रदाता है । यह न्यायाचरण धर्म है । अत: परमात्मा को धर्महीन कहना असङ्गत है । 'परिभू:' पद का 'ऊपर होना' तथा 'स्वयम्भू:' पद का 'स्वयं ही होना' अर्थ भी त्रुटिपूर्ण है । परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, उसका ऊपर नीचे होना अथवा किसी स्थान विशेष में होना कैसे सम्भव है ?

यदि भाष्यकार का आशय यह हो कि वह सब से उत्कृष्ट होने से सर्वोपरि है तो भी अद्वैतमत के विरुद्ध है । क्योंकि जब परमात्मा से भिन्न वे किसी अन्य वस्तु को स्वीकार ही नहीं करते तो किसकी अपेक्षा से उसे सर्वोत्कृष्ट कहोगे । और परिपूर्वक 'भू' धातु का प्रयोग 'तिरस्कार' अर्थ में ही उपयुक्त है । वह परमात्मा कर्म-फल व्यवस्था के अनुसार पापी व्यक्तियों को दण्ड देकर तिरस्कार करता है ।

और 'स्वयम्भूः' पद की व्याख्या में यह मानना—जिनके ऊपर है, और जो ऊपर है, वह सब स्वयं ही होता है, इसलिए उसे 'स्वयम्भूः' कहते हैं । यह कितना पूर्वनिर्धारित मिथ्याग्रह से युक्त तथा मन्त्रार्थ के भी विपरीत अर्थ है । अद्वैतमत वालों की यह मान्यता है कि जीव और प्रकृति की परमार्थ में कोई सत्ता ही नहीं है । वह परमात्मा ही सब प्राणियों में स्वयं ही कार्य कर रहा है । यदि मनुष्यादि के शरीरों में वह परमात्मा ही है तो वह स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से रहित कैसे हो सकता है ? मनुष्यादि सब एकदेशी, अल्पज्ञ, पापविद्ध तथा शरीर वाले हैं, यदि यह परमात्मा ही है तो मन्त्रोक्त परमात्मा का सब स्वरूप मिथ्या ही मानना पड़ेगा, मनुष्यादि शरीरों में कार्य करने वाला आत्मा जन्म-मरण वाला तथा शरीरों वाला है, वह परमात्मा कदापि नहीं हो सकता, अतः मन्त्रार्थ में कथित ब्रह्मस्वरूप से शाङ्कर-मन्त्रव्याख्या विपरीत होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती ।

और 'अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः' के अर्थ में तो श्री शङ्कराचार्य जी ने मिथ्याग्रह की पराकाष्ठा दिखा दी है । क्योंकि इसके सत्यार्थ को स्वीकार करने से उनका अद्वैतवाद सर्वतः धराशायी हो जाता है । इसकी व्याख्या श्री शङ्कराचार्य जी ने यह की है—"उस नित्य ईश्वर ने सर्वज्ञ होने से यथाभूत कर्म, फल और साधन के अनुसार कर्त्तव्यपदार्थों का नित्य रहने वाले संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए विभाग किया ।"

ये नित्य संवत्सर नामक प्रजापति कौन हैं ? यह शाङ्कर भाष्य में स्पष्ट नहीं है । किन्तु यदि उनका अभिप्राय काल से है तो उसके 'शाश्वतीभ्यः' का विशेषण होने से उसे नित्य मानना पड़ेगा । और काल को नित्य मानने वाले परमात्मा से भिन्न नित्यवस्तु को न मानने से अद्वैतवाद की प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं कर सकते । और संवत्सरादि काल के परिमाण हैं । सूर्य से इनकी गणना होती है। जब सूर्य नहीं रहता, तब संवत्सरादि काल परिमाण कैसे होंगे ? फिर इनको शाश्वत=नित्य कैसे माना जा सकता है ? और यदि यही अर्थ यहां सङ्गति के अनुसार ठीक है तो इन संवत्सरों को चेतन या अचेतन मानना पड़ेगा । वह ईश्वर सर्वज्ञ होने से इनके कर्म-फल के अनुसार कर्तव्यों का विभाग करता है, इसकी सङ्गति संवत्सरों के साथ कैसे सङ्गत होगी ? इनके कर्म क्या हैं? और यह ईश्वर इनको किस रूप में फल देता है ? यथार्थ में इस मिथ्या

व्याख्या का कारण पूर्वाग्रहमात्र ही है क्योंकि एक स्थान पर मिथ्या अर्थ करने पर व्याख्याता उसकी सङ्गति न पाकर सर्वत्र लड़खड़ाता रहता है। शाङ्कर-भाष्य की भी यही दशा है । यद्यपि श्री शङ्कराचार्य जी ने 'द्वा सुपर्णा सयुजा०' की व्याख्या में ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता और जीवात्मा को भोक्ता स्पष्टरूप में स्वीकार किया है, किन्तु यहां मिथ्याग्रह के कारण सत्यार्थ नहीं कर सके, यह आश्चर्य की बात है । महर्षि दयानन्द कृत व्याख्या में ऐसी विसंगति कहीं भी नहीं है ।

श्री उव्वट ने इस मन्त्र के 'अर्थान् व्यदधात्' पदों की बहुत ही विचित्र व्याख्या की है । वे लिखते हैं—"अर्थात् विहितवान्' त्यक्त-स्वस्वामिसम्बन्धैश्चेतनाचेतनैरुपभोगं कृतवान्।" अर्थात् अर्थान् व्यदधात्= पदार्थों को बनाया । उसका तात्पर्य यह है कि स्व-स्वामी सम्बन्ध से रहित चेतन और अचेतन पदार्थों से उपभोग किया ।।

समीक्षा—यहां 'अर्थान् व्यदधात्' पदों का जो तात्पर्यार्थ निकाला है, वह सर्वथा अशुद्ध तथा कल्पित है । यहां जो चेतन-अचेतन पदार्थों में स्व-स्वामी सम्बन्ध का निषेध किया है, वह प्रत्यक्ष विरुद्ध है । चेतन प्राणियों का अचेतन पदार्थों के साथ स्व-स्वामी सम्बन्ध प्रत्यक्ष देखा जाता है । प्रत्येक मनुष्य स्वकीय पदार्थों का स्वयं को स्वामी मानता है। क्या यह स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है ? और ब्रह्म का चेतन-अचेतन पदार्थों से उपभोग करना भी सम्भव नहीं है । जिस ब्रह्म को मन्त्र में 'अकायम्=शरीररहित' कहा है, वह विना शरीर के उपभोग कैसे करेगा। और अन्यत्र उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है—"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मुण्डक०) अर्थात् ब्रह्म भोग नहीं करता । अतः श्री उव्वट की व्याख्या प्रमत्त-प्रलाप मात्र ही है ।

कुछ विद्वानों ने इस मन्त्र के 'समाभ्यः' पद में पञ्चमी विभक्ति मानकर 'अनादिकाल से' अर्थ किया है । किन्तु कालवाची शब्दों में व्याकरण के नियम से पञ्चमी विभक्ति सर्वत्र नहीं होती । 'सप्तमी-पञ्चम्यौ कारकमध्ये ।' (अ० २।३।७) इस पाणिनि के सूत्र से कालवाची शब्दों में पञ्चमी विभक्ति वहां होती है, जहां कालवाची शब्द दो कारक-शक्तियों के मध्य में हो । प्रस्तुत मन्त्र में 'समाः' पद का दो कारक शक्तियों से सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत एक कर्तृकारक (ब्रह्म) से ही सम्बन्ध है । अतः यहां पञ्चमी विभक्ति मानकर अर्थ करना व्याकरणशास्त्रीय भूल है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

के जना अन्धन्तमः प्राप्नुवन्तीत्याह ।।

कौन मनुष्य घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं, यह उपदेश किया है।।

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो य ऽ उ सम्भूत्याᳬं रताः ।।९।।

***पदार्थः*—(अन्धम्)** आवरकम् **(तमः)** अन्धकारम् **(प्र)** प्रकर्षेण **(विशन्ति) (ये) (असम्भूतिम्)** अनाद्यनुत्पन्नं प्रकृत्याख्यं सत्त्वरजस्तमोगुणमयं जडवस्तु **(उपासते)** उपास्यतया जानन्ति **(ततः)** तस्माद् **(भूय इव)** अधिकमिव **(ते) (तमः)** अविद्यामयमन्धकारम् **(ये) (उ)** वितर्केण सह **(सम्भूत्याम्)** महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ **(रताः)** ये रमन्ते ते ।।९।।

***अन्वयः*—**ये परमेश्वरं विहायाऽसम्भूतिमुपासते तेऽधन्तमः प्रविशन्ति, ये सम्भूत्यां रतास्त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ।।९।।

***सपदार्थान्वयः*— ये परमेश्वरं विहायाऽसम्भूतिम्** अनाद्यनुत्पन्नं प्रकृत्याख्यं सत्त्वरजस्तमोगुणमयं जडवस्तु **उपासते** उपास्यतया जानन्ति **तेऽन्धम्** आवरकम् **तमः** अन्धकारम् **प्र+विशन्ति** प्रकर्षेण विशन्ति ।

ये सम्भूत्यां महदादिस्वरूपेण परिणतायां सृष्टौ **रताः** ये रमन्ते ते **त उ** वितर्केण सह **ततः** तस्मात् **भूय इव** अधिकमिव **तमः** अविद्यामयमन्धकारं **प्रविशन्ति** ।।९।।

***भाषार्थ*—**जो लोग परमेश्वर को छोड़कर (असम्भूतिम्) अनादि, जिसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती, सत्त्व, रज, तमगुणरूप प्रकृति नामक जड़ वस्तु को (उपासते) उपासनीय समझते हैं (ते) वे (अन्धम्) ढकने वाले (तमः) अन्धकार में (प्र) अच्छी तरह से (विशन्ति) प्रविष्ट होते हैं ।

(ये) जो लोग (सम्भूत्याम्) महत्तत्त्वादि स्वरूप में परिणत हुई सृष्टि में (रताः) रमण करने वाले हैं, (ते) वे (उ) निस्सन्देह (ततः) उससे (भूय इव) कहीं अधिक (तमः) अविद्यारूप अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं ।।९।।

भावार्थः— ये जनाः सकलजडजगतोऽनादिनित्यं कारणमुपास्यतया स्वीकुर्वन्ति, तेऽविद्यां प्राप्य सदा क्लिश्यन्ति ।

ये च तस्मात्कारणादुत्पन्नं पृथिव्यादिस्थूलं, सूक्ष्मं कार्यकारणाऽऽख्यमनित्यं संयोगजन्यं कार्यं जगदिष्टमुपास्यं मन्यन्ते, ते गाढामविद्यां प्राप्याऽधिकतरं क्लिश्यन्ति तस्मात् सच्चिदानन्दस्वरूपं परमात्मानमेव सर्वे सदोपासीरन् ।।४०।९।।

भावार्थ—जो लोग सकल जड़ जगत् के अनादि नित्य कारण प्रकृति को समझते हैं, वे अविद्या को प्राप्त करके सदा दुःखी रहते हैं।

और जो उस कारण प्रकृति से उत्पन्न हुए पृथिव्यादि स्थूल, कार्यकारण रूप सूक्ष्म अनित्य संयोग से उत्पन्न कार्य जगत् को अपना इष्ट उपास्य देव मानते हैं; वे गाढ़ अविद्या को प्राप्त करके उस से अधिक दुःखी रहते हैं । इसलिए सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की सदा उपासना करें।।४०।९।।

भाष्यसार—**कौन मनुष्य घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं—**जो मनुष्य परमेश्वर को छोड़कर असम्भूति अर्थात् अनादि, अनुत्पन्न, प्रकृति नामक सत्त्व, रज, तमगुणमय जड़वस्तु को उपास्य मानते हैं, वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं अर्थात् अविद्या को प्राप्त होकर सदा दुःखी रहते हैं । और जो सम्भूति अर्थात् उस कारण प्रकृति से उत्पन्न, महदादि स्वरूप में परिणत हुई सृष्टि अर्थात् पृथिव्यादि स्थूल जगत्, कार्य-कारण रूप सूक्ष्म, अनित्य संयोगजन्य कार्य जगत् को उपास्य मानते हैं; उसमें रमण करते हैं वे उससे भी कहीं अधिक गाढ़ अविद्या- अन्धकार को प्राप्त होकर दुःखी रहते हैं । अतः सब मनुष्य सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की ही सदा उपासना करें ।।४०।९।।

अन्यत्र व्याख्यात—'अन्धन्तमः प्रविशन्ति०'—जो असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न, अनादि, प्रकृति कारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं, वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दुःखसागर में डूबते हैं और सम्भूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूपी पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं; वे महामूर्ख उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् चिरकाल घोर दुःखरूप नरक में गिरके महाक्लेश भोगते हैं ।।४०।९।।

(सत्यार्थप्रकाश एकादश समुल्लास)

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=मनुष्यः । अनुष्टुप । गान्धारः ॥

पुनर्मनुष्याः किं कुर्य्युरित्याह ॥

फिर मनुष्य क्या करें, यह उपदेश किया है ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

***पदार्थः*—(अन्यत्)** कार्यं फलं वा **(एव) (आहुः)** कथयन्ति **(सम्भवात्)** संयोगजन्यात्कार्य्यात् **(अन्यत्)** भिन्नम् **(आहुः)** कथयन्ति **(असम्भवात्)** अनुत्पन्नात्कारणात् **(इति)** अनेन प्रकारेण **(शुश्रुम)** शृणुमः **(धीराणां)** मेधाविनां, विदुषां योगिनाम् **(ये) (नः)** अस्मान् प्रति **(तत्)** तयोर्विवेचनम् **(विचचक्षिरे)** व्याचक्षते ॥१०॥

***अन्वयः*—**हे मनुष्या यथा वयं धीराणां सकाशाद्यद्वचः शुश्रुम, ये नस्तद्विचचक्षिरे, ते सम्भवादन्यदेवाहुरसम्भवादन्यदाहुरिति यूयमपि शृणुत॥१०॥

***सपदार्थान्वयः*— हे मनुष्याः ! यथा वयं धीराणां** मेधाविनां, विदुषां योगिनां **सकाशाद्यद्वचः शुश्रुम** शृणुमः, **ये नः** अस्मान् प्रति **तत्** तयोर्विवेचनं **विचचक्षिरे** व्याचक्षते; **ते सम्भवाद्** संयोगजन्यात्कार्य्यात् **अन्यत्** कार्य्यं फलं वा **एवाहुः** कथयन्ति; **असम्भवात्** अनुत्पन्नात्कारणात् **अन्यत्** भिन्नम् फलम् **आहुः** कथयन्ति **इति** अनेन प्रकारेण **यूयमपि शृणुत** ॥४०।१०॥

***भाषार्थ*—**हे मनुष्यो ! जैसे हमने (धीराणाम्) मेधावी, विद्वान् योगी जनों के वचन (उपदेश) (शुश्रुम) सुने हैं (ये) जिन्होंने (नः) हमें (तत्) उस सम्भूति और असम्भूति दोनों का विवेचन (विचचक्षिरे) व्याख्यापूर्वक समझाया है; वे योगी (सम्भवात्) संयोग से उत्पन्न कार्य से (अन्यत् एव) और ही कार्य वा फल (आहुः) बतलाते हैं तथा (असम्भवात्) उत्पन्न न होने वाले कारण से (अन्यत्) भिन्न कार्य वा फल (आहुः) बतलाते हैं। (इति) इस प्रकार तुम भी सुनो ॥१०॥

***भावार्थः*—**हे मनुष्याः ! यथा विद्वांसः कार्यात्कारणाद्वस्तुनो भिन्नं भिन्नं वक्ष्यमाणमुपकारं गृह्णन्ति, ग्राहयन्ति ।

***भावार्थ*—**हे मनुष्यो ! जैसे विद्वान् लोग कार्य-वस्तु और कारण-वस्तु से आगे कहे जाने वाले भिन्न-भिन्न उपकार ग्रहण करते तथा अन्यों

	को भी ग्रहण करवाते हैं ।
तद्गुणान् विज्ञायाऽधिज्ञापयन्त्येवमेव यूयमपि निश्चिनुत ।।१०।।	उन कार्य और कारण के गुणों को जानकर अन्यों को समझाते हैं: इसी प्रकार तुम भी निश्चय करो ।।४०।१०।।

भा० पदार्थः—धीराः=विद्वांसः । सम्भवात्=कार्याद्वस्तुनः । असम्भवात्==कारणाद्वस्तुनः । अन्यत्=भिन्नं भिन्नं वक्ष्यमाणमुपकारम् । विचचक्षिरे=अधिज्ञापयन्ति ।।४०।१०।।

भाष्यसार—मनुष्य क्या करें–विद्वान् मनुष्य धीर अर्थात् मेधावी विद्वान् योगी जनों से जिन सम्भूति विषयक वचनों का श्रवण करें उनका विवेचन करके सब मनुष्यों को समझावें । सम्भव (सम्भूति) अर्थात् संयोग से उत्पन्न कार्य जगत् से उक्त विद्वान् अन्य फल बतलाते हैं और असम्भव (असम्भूति) अर्थात् अनुत्पन्न कारण जगत् से अन्य फल बतलाते हैं ।

उक्त विद्वान् मनुष्य सम्भव (कार्यवस्तु), असम्भव (कारण वस्तु) से भिन्न-भिन्न वक्ष्यमाण उपकार ग्रहण करते और कराते हैं । कार्य वस्तु और कारण वस्तु के गुणों को स्वयं जानकर उनका उपदेश करते हैं । अतः सब मनुष्य कार्य और कारण वस्तु को जानें ।।४०।१०।।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=विद्वान् । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

पुनर्मनुष्यैः कार्य्यकारणाभ्यां किं किं साधनीयमित्याह ।।

फिर मनुष्यों को कार्य और कारण वस्तु से क्या-क्या सिद्ध करना चाहिए, यह उपदेश किया है ।।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह ।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ।।११।।

पदार्थः—**(सम्भूतिम्)** सम्भवन्ति यस्यां तां कार्य्याख्यां सृष्टिम् **(च)** तस्या गुणकर्मस्वभावान् **(विनाशम्)** विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् **(च)** तद्गुणकर्म्मस्वभावान् **(यः) (तत्) (वेद)** जानाति **(उभयम्)** कार्य्यकारणस्वरूपं जगत् **(सह) (विनाशेन)** नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन सह **(मृत्युम्)** शरीरवियोगजन्यं दुःखम् **(तीर्त्वा)** उल्लङ्घ्य **(सम्भूत्या)** शरीरेन्द्रियान्तःकरणरूपयोत्पन्नया कार्यरूपया धर्म्ये

प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या **(अमृतम्)** मोक्षम् **(अश्नुते)** प्राप्नोति ।।११।।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यो विद्वान् सम्भूतिं च विनाशं च सहोभयं तद्वेद, स विनाशेन सह मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या सहामृतमश्नुते ।।११।।

सपदार्थान्वयः— **हे मनुष्याः ! यो**=**विद्वान् सम्भूतिं** सम्भवन्ति यस्यां तां कार्य्याख्यां सृष्टिं **च** तस्या गुणकर्मस्वभावान् **विनाशं** विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन् **च** तद्गुण-कर्म-स्वभावान् **सहोभयं** कार्य्यकारणस्वरूपं जगत् **तद्वेद** जानाति; **स विनाशेन** नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन **सह मृत्युं** शरीरवियोगजन्यं दुःखं **तीर्त्वा** उल्लङ्घ्य **सम्भूत्या** शरीरेन्द्रियान्तः-करणरूपयोत्पन्नया कार्यरूपया, धर्म्ये प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या **सहामृतं** मोक्षम् **अश्नुते** प्राप्नोति ।।४०।११।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! (यः) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिसमें पदार्थ उत्पन्न होते हैं उस कार्यरूप सृष्टि को (च) और सृष्टि के गुण, कर्म, स्वभाव को एवं (विनाशम्) जिसमें पदार्थ विनष्ट=अदृश्य हो जाते हैं उस कारणरूप प्रकृति को तथा (च) उसके गुण, कर्म, स्वभाव को (सह) एक साथ (उभयं तत्) उस कार्य कारण रूप जगत् को (वेद) जानता है; वह (विनाशेन) नित्य स्वरूप को समझने के कारण (मृत्युम्) शरीर और आत्मा के वियोग से उत्पन्न दुःख को (तीर्त्वा) पार करके (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय अन्तःकरण रूप उत्पन्न होने वाले कार्य रूप, धर्म कार्य में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के सहयोग से (अमृतम्) मोक्ष-सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है ।

भावार्थः—हे मनुष्याः ! कार्य-कारणाऽऽख्ये वस्तुनी निरर्थके न स्तः; किन्तु कार्य-कारणयोर्गुण-कर्मस्वभावान् विदित्वा, धर्मादि-मोक्षसाधनेषु सम्प्रयोज्य; स्वाऽऽत्म-कार्यकारणयोर्विज्ञातेन नित्यत्वेन मृत्युभयं त्यक्त्वा मोक्षसिद्धिं सम्पादयतेति कार्य-कारणाभ्यामन्यदेव

भावार्थ—हे मनुष्यो ! कार्य (सृष्टि), कारण (प्रकृति) नामक वस्तुएं निरर्थक नहीं हैं, किन्तु कार्य, कारण इन दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव को जानकर, इनका धर्मादि, मोक्ष के साधनों में उपयोग करके, अपने-अपने स्वरूप से कार्य और कारण की नित्यता के विज्ञान से

फलं निष्पादनीयमिति ।

मृत्यु के भय को हटा कर मोक्ष की सिद्धि करो । इस प्रकार कार्य (सृष्टि), कारण (प्रकृति) के द्वारा भिन्न-भिन्न धर्मादि और मोक्षसिद्धि रूप फल प्राप्त करने चाहिए ।

अनयोर्निषेधो हि परमेश्वर-स्थान उपासनाप्रकरणे वेदितव्यः ।।११।।

उपासना के प्रकरण में परमेश्वर के स्थान में इन कार्य (सृष्टि), कारण (प्रकृति) की उपासना करने का निषेध समझना चाहिए ।।४०।११।।

भा० पदार्थः—सम्भूतिम्=कार्याऽऽख्यं वस्तु । विनाशम्=कारणाऽऽख्यं वस्तु । उभयम्=कार्यकारणयोर्गुण-कर्म-स्वभावम् । मृत्युम्=मृत्यु-भयम् । अमृतम्=मोक्षसिद्धिम् ।।४०।११।।

***भाष्यसार*—मनुष्य कार्य और कारण वस्तु से क्या-क्या सिद्ध करें**—विद्वान् मनुष्य सम्भूति अर्थात् कार्य नामक सृष्टि और उसके गुण, कर्म, स्वभाव, विनाश (असम्भूति) अर्थात् जिसमें सब पदार्थ विनष्ट=अदृश्य हो जाते हैं । उस कारण रूप प्रकृति और उसके गुण, कर्म, स्वभाव को साथ-साथ जानें । विनाश (असम्भूति) नित्य प्रकृति को जानकर मृत्यु अर्थात् शरीर के वियोग से उत्पन्न दुःख को पार करें। सम्भूति अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप उत्पन्न कार्य जगत् तथा धर्म में प्रवृत्त करने वाली सृष्टि को जानकर, इसका सदुपयोग करके मोक्ष-फल को प्राप्त करें । इस प्रकार कारण वस्तु से मृत्यु-भय का त्याग और कार्य वस्तु से मोक्ष-फल की सिद्धि रूप भिन्न-भिन्न फल की प्राप्ति करें । कारण और कार्य वस्तु का परमेश्वर के स्थान में उपासना करने का निषेध है; इनसे यथायोग्य उपयोग लेने का नहीं ।।४०।११।।

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के १२, १३ तथा १४वें मन्त्रों (यजुर्वेद में ९, १० व ११वें मन्त्र) में सम्भूति और असम्भूति के उपयोग को समझाया गया है । इनमें प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि जो असम्भूति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं और जो मनुष्य सम्भूति में ही रत हैं, वे उससे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं । और दूसरे मन्त्र में कहा है कि जिन मेधावी विद्वान् योगी जनों ने

हमारे लिए सम्भूति और असम्भूति का उपदेश किया है, उनसे हमने ऐसा सुना है कि सम्भूति का फल अन्य है और असम्भूति का फल दूसरा है। और तीसरे मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति को जो साथ-साथ जान लेता है, वह असम्भूति से मृत्यु के भय को पार कर लेता है तथा सम्भूति से अमृत=मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार इस मन्त्र में सम्भूति और असम्भूति के फलों का वर्णन किया गया है—

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि असम्भूति और सम्भूति क्या वस्तु हैं ? भाष्यकारों ने इनकी जो व्याख्याएं की हैं, उनमें पर्याप्त भिन्नता है । महर्षि दयानन्द के भाष्य के अनुसार असम्भूति का अर्थ प्रकृति है, जो कभी उत्पन्न न होने से अनादि है । यह जड़ वस्तु है । इस प्रकृति से जो महत्तत्वादि उत्पन्न होते हैं, उन्हें 'सम्भूति' कहते हैं । ये महत्तत्त्वादि प्रकृति से सम्भूत=उत्पन्न होने के कारण सम्भूति कहलाते हैं। उक्त असम्भूति और सम्भूति का आत्मा के लिए क्या उपयोग है, यहां प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि जो असम्भूति=प्रकृति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् वे सदा अविद्याग्रस्त होने से सदा दु:खी रहते हैं, और जो सम्भूति=प्रकृति के कार्य पृथिवी आदि जड़ वस्तुओं से लगे रहते हैं वे उनसे भी घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं। अत: आत्मा के लिए असम्भूति और सम्भूति दोनों ही उपासनीय वस्तु नहीं हैं किन्तु एक चेतन परमात्मा ही उपासना के योग्य है ।

दूसरे मन्त्र में असम्भूति और सम्भूति का भिन्न-भिन्न फल बताकर उनका उपयोग बताया गया है । तीसरे मन्त्र में उन फलों का वर्णन करके बताया गया कि असम्भूति और सम्भूति आत्मा के लिए उपासनीय तो नहीं हैं, किन्तु अत्यन्त उपयोगी हैं । आत्मा को इन दोनों का साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करके इनका उपयोग लेना चाहिए । तीसरे मन्त्र में असम्भूति के स्थान पर 'विनाश' शब्द का पाठ है । क्योंकि सब उत्पन्न हुए पदार्थ प्रलय में प्रकृति में विनाश=लय को प्राप्त होते हैं । जो इस विनाश के विज्ञान अर्थात् सृष्टि के कारण-कार्य भाव को समझ लेता है, वह अविद्यादि क्लेशों से बचने के कारण मृत्यु को पार कर जाता है । और सम्भूति=प्रकृति के कार्यपदार्थों का आत्मा विद्वानों की संगति में रहकर वेदोक्तविधि से ठीक-ठीक उपयोग करे तो वह अमृत=मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । इन तीनों मन्त्रों से स्पष्ट है कि ये

असम्भूति और सम्भूति आत्मा के लिए उपासनीय वस्तु तो नहीं हैं, किन्तु उपयोगी अवश्य हैं ।

श्री शङ्कराचार्य जी ने इन मन्त्रों के पूर्वोक्त रहस्य को नहीं समझकर विपरीत ही व्याख्या की है । इन मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं–असम्भूतिम्=सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः, तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणम्··· सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये ।" अर्थात् सम्भवन=उत्पन्न होने का नाम सम्भूति है । वह जिस कार्य का धर्म है उसे सम्भूति कहते हैं । उससे भिन्न को असम्भूति=प्रकृति या कारण कहते हैं । सम्भूति का अर्थ है कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भनामक ।

यहां शाङ्कर-भाष्य में 'असम्भूति' का अर्थ तो ठीक किया है, किन्तु सम्भूति का अर्थ पूर्वाग्रह वश कल्पित कर गए । जब 'असम्भूति' के अर्थ में 'सम्भूति' का अर्थ भी स्पष्ट कर आए हैं तो उससे भिन्नता क्यों ? यदि 'असम्भूति' का अर्थ प्रकृति या कारण है तो सम्भूति का अर्थ प्रकृति से उत्पन्न कार्य-जगत् होना चाहिए अथवा शाङ्करभाष्य के अनुसार यदि सम्भूति का अर्थ 'कार्य-ब्रह्म' है तो असम्भूति का अर्थ 'कारण ब्रह्म' होना चाहिए । अतः शाङ्करभाष्य में किया सम्भूति का अर्थ काल्पनिक है । और हिरण्यगर्भाख्य कार्य-ब्रह्म क्या वस्तु है ? और असम्भूति=प्रकृति क्या है ? क्योंकि अद्वैतवाद में तो ब्रह्म से भिन्न-दूसरी वस्तु होनी ही नहीं चाहिए । यहां श्री शङ्कराचार्य जी ने जगत् के कारण भूत प्रकृति की सत्ता को तो स्वीकार कर लिया किन्तु हिरण्यगर्भाख्य कार्य-ब्रह्म और मान-बैठे । जब 'स पर्यगात्' मन्त्र में ब्रह्म को व्यापक सर्वविधशरीरों से रहित, अविनश्वरादि कहा गया है, तब कारण ब्रह्म से कार्यब्रह्म की उत्पत्ति कैसे हो गई ? जब इन मन्त्रों से स्पष्टरूप से जड़-पदार्थों की उपासना-प्रतिषेध किया है, तब इस कार्यब्रह्म=हिरण्यगर्भ का वर्णन यहां कैसे हो सकता है ? अतः यह अर्थ काल्पनिक ही है।

दूसरे व तीसरे मन्त्र में असम्भूति व सम्भूति का फल बताया गया है । किन्तु तीसरे मूल मन्त्र में कथित फल की उपेक्षा करके शाङ्कर-भाष्य में लिखा है–

"सम्भूतेः कार्यब्रह्मोपासनाद् अणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। ···असम्भवाद्=असम्भूतेरव्याकृताद् अव्याकृतोपासनात् । यदुक्तमन्धन्तमः

प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यते ।" अर्थात् सम्भूति=कार्यब्रह्म की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्यरूप फल प्राप्त होता है और असम्भूति= अव्याकृत (प्रकृति) की उपासना से, जिसे 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' इस वाक्य से कह चुके हैं तथा पौराणिक उसे प्रकृतिलय कहते हैं ।

इस मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी ने सम्भूति और असम्भूति की उपासना का फल अणिमादि ऐश्वर्य-प्राप्ति आदि बतलाया है । जब कि इससे पहले मन्त्र में सम्भूति की उपासना करने वालों को घोरतम अन्धकार में प्रविष्ट होना लिखा है । यहां उन्होंने इतना भी विचार नहीं किया कि जिन असम्भूति व सम्भूति की उपासना की प्रथम निन्दा की गई है और जिस से स्पष्ट है कि वे उपासनीय नहीं हैं, तब उनका ऐश्वर्य-प्राप्ति रूप फल कैसे सम्भव है ? और इस मन्त्र में 'उपासना' शब्द भी नहीं है । मन्त्र में जिस उपयोगरूप फल का सङ्केत किया गया है, उसका वर्णन तो अगले मन्त्र में किया गया है । क्या आपके फल में और मन्त्र-प्रोक्त फल में समता है ? यदि नहीं, तो आपकी व्याख्या मूल मन्त्र से विरुद्ध है और तृतीय मन्त्र में उपासना का फल नहीं, प्रत्युत उसकी उपयोगिता का वर्णन ही किया गया है अर्थात् असम्भूति विज्ञान से मृत्यु को पार करता, और सम्भूति विज्ञान से मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । मन्त्र में 'वेद=जानना' क्रिया है, उपासना नहीं।

इनमें से तीसरे मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं-"सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणा अभेदेन उच्यते विनाश इति, तेन तदुपासनेनानैश्वर्यम-धर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम्, तेनानैश्वर्यादि मृत्युमतीत्य असम्भूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते ।"

अर्थात् जो पुरुष सम्भूति और विनाश इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह-जिसके कार्य का धर्म विनाश है और उस धर्मी से अभेद होने के कारण जो स्वयं भी विनाश कहा जाता है, उस विनाश की उपासना से अनैश्वर्य, अधर्म तथा कामनादि दोषों से उत्पन्न मृत्यु को पार करके हिरण्यगर्भ (सम्भूति) की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्ति रूप फल मिलता है । उससे अनैश्वर्यादि तथा मृत्यु को लांघता है और असम्भूति=अव्याकृत (प्रकृति) की उपासना से अमृत=प्रकृतिलयत्व को

प्राप्त होता है ।

यहां श्री शङ्कराचार्य जी मन्त्रपठित 'विनाश' पद के अर्थ को नहीं समझ सके । आपने 'विनाश' का अर्थ विनाश होने वाला कार्य पदार्थ किया है । मन्त्र में कार्य-पदार्थ के लिए 'सम्भूति' पद जब पढ़ा हुआ है, जिसका उन्होंने स्वयं 'कार्य-ब्रह्म' अर्थ किया है । यदि मन्त्र में 'सम्भूति' और 'विनाश' पदों का एक ही अर्थ है तो मन्त्र में पुनरुक्ति दोष है । यथार्थ में मन्त्र में यह दोष नहीं है, यह व्याख्याकार का दोष है, जो उसको न समझकर अन्यथा व्याख्यान कर गए । 'नैष स्था-णोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति ।' मन्त्र के पूर्वार्द्ध में जब श्री शङ्कराचार्य जी गलत व्याख्या कर गए, फिर मन्त्र के उत्तरार्द्ध की सङ्गति कैसे लगती? अब चक्र में पड़ गए और मन्त्र में ही परिवर्तन करने का दुस्साहस कर बैठे । और यह व्याख्या में लिख दिया-

"सम्भूतिं विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः ।"

अर्थात् 'विनाश' का अर्थ तो ठीक है, किन्तु 'सम्भूति' से पूर्व अवर्णलोप मानना चाहिए । अर्थात् 'सम्भूति' को 'असम्भूति' करके व्याख्या करनी चाहिए । यहां मन्त्र में परिवर्तन करने का दुस्साहस तो श्री शङ्कराचार्य जी ने किया, परन्तु अपने दोष को न समझ सके । महर्षि दयानन्द ने इस रहस्य को भलीभांति समझा और मन्त्र में विना किसी परिवर्तन के मन्त्रार्थ की सङ्गति लगा दी, यह था मन्त्रद्रष्टा महर्षि का ऋषित्व । महर्षि लिखते हैं कि इस मन्त्र में 'सम्भूति' का अर्थ तो 'कार्य-पदार्थ' ही है किन्तु 'विनाश' का अर्थ कारणरूप प्रकृति है । महर्षि लिखते हैं-'विनश्यन्त्यदृश्याः पदार्था भवन्ति यस्मिन्' अर्थात् जिसमें सब कार्यपदार्थ विनष्ट=अदृश्य हो जाते हैं, उसे विनाश=प्रकृति कहते हैं । देखिए कैसी सुन्दर तथा व्याकरणसम्मत व्याख्या है । श्री शङ्कराचार्य जी जो प्रकृति की सत्ता को नहीं मानते, प्रकृति को नित्य मानना तो दूर की बात है, वे इस बात से असमञ्जस में पड़ गये कि 'विनाश' का अर्थ प्रकृति कैसे किया जाए ? और इस रहस्य को न समझकर मन्त्र में परिवर्तन कर दिया । धन्य है, श्री शङ्कराचार्य जी की दिव्य बुद्धि को । यदि किसी स्थल पर कोई बात समझ में नहीं आई थी, तो मन्त्र में परिवर्तन की अपेक्षा यही लिख देते कि विद्वान् इस पर विचार कर लेवें । इससे व्याख्याकार का गौरव बढ़ता ही है, घटता नहीं।

यह तो प्रथम बतलाया जा चुका है कि इन मन्त्रों में सम्भूति और असम्भूति की उपासना की निन्दा तो की है, किन्तु विधान नहीं । पुनरपि श्री शङ्कराचार्य जी मन्त्रों के रहस्य को न समझकर 'उपासना' शब्द का प्रयोग करते रहे हैं । मन्त्रों में सम्भूति तथा असम्भूति के विज्ञान की आत्मा के लिए उपयोगिता ही बतलाई गई है । इस तीसरे मन्त्र में 'उपासते' क्रिया नहीं है, अपितु 'वेद'=जानता क्रिया है । अतः मन्त्र में इनके विज्ञान का ही निर्देश है । पुनरपि श्री शङ्कराचार्य जी विनाश=कार्य पदार्थ की उपासना से अनैश्वर्य अधर्म तथा कामनादि दोषों से उत्पन्न मृत्यु को पार करने का वर्णन कर रहे हैं । मन्त्र में केवल विनाश के विज्ञान से मृत्यु को पार करना एक फल का निर्देश है । श्री शङ्कराचार्य जी अनेक फलों का निर्देश कर रहे हैं अर्थात् आत्मा विनाश से अनैश्वर्य को पार करता है, और अधर्मादि से उत्पन्न मृत्यु को पार करता है । शाङ्कर-भाष्य की अनैश्वर्य को पार करना तथा विनाश के विज्ञान के स्थान पर विनाशोपासना बताना कल्पना ही नहीं, प्रत्युत मूलमन्त्र से विरुद्ध व्याख्या है ।

इन मन्त्रों में दूसरे व तीसरे मन्त्रों की व्याख्या में शाङ्कर-भाष्य में असम्भूति की उपासना का फल प्रकृतिलय रूप अमृत प्राप्ति बताया है। दूसरे मन्त्र की व्याख्या में अन्धन्तमः=घोर अन्धकार में प्रवेश तथा प्रकृतिलय को स्वयं समान माना है और अब (तीन मन्त्रों में) प्रकृतिलय को ही अमृत कह दिया । क्या प्रकृतिलय और अमृत एक हो सकते हैं? कहां प्रकृतिलय=महादुःखार्णव में डूबना और कहां अमृत=मोक्ष प्राप्ति जिसमें लेशमात्र भी दुःख नहीं है, इन दोनों में आकाश-पातालवत् अन्तर है । इन्हें एक मान कर वेदार्थ करना बहुत ही अविवेकपूर्ण तथा वेद-विरुद्ध कार्य है ।

मृत्यु को पार करके 'अमृतम्' क्या हो सकता है ? 'अमृतम्' शब्द स्वयं किस अर्थ को बता रहा है जिसमें मृत्यु आदि का दुःख न हो । क्या उसे प्रकृतिलय=घोर अन्धकारावस्था कहा जा सकता है ? श्री शङ्कराचार्य जी ने अन्यत्र 'अमृतम्' शब्द का अर्थ 'अमरणधर्मकं ब्रह्म' अर्थात् मोक्ष अथवा 'अमृतम्=सुखरूपम्' किया है । देखिए–

(१) परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।। (मुण्डको० ३।२।६)

'परामृताः=परममृतम्=अमरणधर्मकं ब्रह्म आत्मभूतं येषां ते ।'

यहां 'अमृत' का अर्थ 'अमरणधर्मक ब्रह्म' किया है ।

(२) आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ।। (मुण्डको० २।२।७)

"आनन्दरूपं सर्वानर्थदु:खायासप्रहीणं सुखरूपम् अमृतं यद् विभाति।"

अर्थात् 'अमृतम्' का अर्थ सुखरूप है और वह आनन्दरूप अर्थात् समस्त अनर्थ व दु:खों से रहित है । अत: 'अमृतम्' का अर्थ मोक्ष है। इसलिए 'सम्भूत्यामृतमश्नुते' की व्याख्या में 'अमृतम्' को प्रकृति-लयरूप कहना उनकी व्याख्या से भी विरुद्ध होने से कैसे विद्वदभिनन्दनीय हो सकता है ?

(३) ईशावास्योपनिषत् के मन्त्रों में 'अमृत' शब्द का पाठ अनेक स्थानों पर आया है । उन स्थानों पर दोनों भाष्यकारों के अर्थ-भेद भी द्रष्टव्य हैं—

(क) **विद्ययामृतमश्नुते ।** (११वां मन्त्र)

देवताज्ञानेनामृतम्=देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । (शा० भा०)

अर्थात् देवताज्ञान से "देवत्वभाव" को प्राप्त हो जाता है ।

विद्यया=आत्मशुद्धान्त:करणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन अमृतम्=नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा अश्नुते ।। (महर्षिदया० भा०)

अर्थात् आत्मा और शुद्ध अन्त:करण के संयोगरूपधर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से अमृतम्=अविनाशी आत्मस्वरूप या परमात्मा को प्राप्त करता है ।

(ख) **सम्भूत्यामृतमश्नुते ।।** (१४ वां मन्त्र)

सम्भूत्या (असम्भूत्या) अव्याकृतोपासनया अमृतम्=प्रकृतिलय-लक्षणमश्नुते । (शा० भा०) अर्थात् अव्यक्तोपासना से "अमृतम्=प्रकृतिलय" रूप अमृत को प्राप्त कर लेता है ।

सम्भूत्या=शरीरेन्द्रियान्त:करणरूपयोत्पन्नया कार्यरूपया धर्म्ये प्रवर्त्तयित्र्या सृष्ट्या अमृतम्=मोक्षमश्नुते । (महर्षिदया० भा०)

अर्थात् शरीर-इन्द्रिय-अन्त:करण रूप उत्पन्न होने वाली कार्यरूप, धर्मकार्य में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के सहयोग से "अमृतम्=मोक्षसुख" को प्राप्त करता है ।

(ग) **वायुरनिलममृतम्० ।।** (१७ वां मन्त्र)

वायु:=प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिल-ममृतं=सूत्रात्मानं प्रतिपद्यताम् ।। (शा० भा०)

अर्थात् मरने वाले का वायु (प्राण) अपने अध्यात्म परिच्छेद को

त्यागकर अधिदैवरूप सर्वात्मक वायुरूप "अमृत=सूत्रात्मा" को प्राप्त हो।

अत्रस्थो वायुः धनञ्जयादिरूपः अनिलं कारणरूपं वायुम् अनिलेऽमृतं नाशरहितं कारणं धरति । (महर्षिदया० भा०)

अर्थात् यहां विद्यमान धनञ्जयादि रूप वायु कारणरूप वायु को और "अमृतं=नाशरहितकारणं" को धारण करता है ।

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों में शाङ्कर–भाष्य के अनुसार 'अमृतं' शब्द का अर्थ है–"देवत्व–भाव" "प्रकृतिलय" और "सूत्रात्मा वायु" । और महर्षि दयानन्द के अनुसार "अविनाशी आत्मस्वरूप या परमात्मा" "मोक्षसुख" और "नाशरहित कारण" अर्थ हैं । दोनों भाष्यकारों के अर्थों में सब से महान् अन्तर यह है कि शाङ्कर–भाष्य में शाब्दिक अर्थ (यौगिक) पर कोई ध्यान नहीं दिया है, किन्तु महर्षि ने प्रकरणानुसार जो भी अर्थ किए हैं, उन सब में 'अमृतम्' शब्द का यौगिकार्थ का परित्याग कहीं भी नहीं हुआ है । अतः उनके अर्थ में जो अर्थ–गाम्भीर्य तथा सङ्गति है, वह शाङ्कर–भाष्य में नहीं है ।

शाङ्कर–भाष्य में 'अमृतम्' पद का अर्थ अमृतत्व=मोक्ष क्यों नहीं किया, यह श्री शङ्कराचार्य जी ने स्वयं लिखा भी है–

''विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वञ्च । ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात् समुच्चयानुपपत्तिः ।"

(ईशावास्यो० १८वां मन्त्र)

अर्थात् विद्या शब्द से परमात्म–विद्या का और 'अमृत' शब्द से "अमृतत्व" (मोक्ष) का ग्रहण क्यों नहीं करते ? परमात्मविद्या और कर्म का विरोध होने से उनका समुच्चय नहीं हो सकता । इससे स्पष्ट है कि एक मत में पूर्वनिर्धारित धारणा के अनुसार 'विद्या' तथा 'अमृतादि' शब्दों के अर्थों को जानते हुए भी मिथ्या अर्थ किए गए हैं । क्या ऐसा करना विद्वानों को शोभा दे सकता है ?

श्री उव्वट ने यहां प्रथम मन्त्र की व्याख्या में 'असम्भूति' पद का अर्थ अपुनर्जन्म, और सम्भूति का अर्थ आत्मज्ञान किया है । वे लिखते हैं–येऽसम्भूतिमुपासते, मृतस्य सतः पुनः सम्भवो नास्ति, अतः शरीरग्रहणाद–स्माकं मुक्तिरेव । न हि विज्ञानात्मा कश्चिदनुच्छित्तिधर्माऽस्ति यो यमनियमैः सम्बध्यते'''। ये सम्भूत्यामेव रताः'''आत्मज्ञान एव रताः । (उव्वटभाष्य)

समीक्षा–ये तीन मन्त्र इस प्रकार के हैं कि असम्भूति और

सम्भूति का जो भी कोई अर्थ स्वीकार किया जाए, वह सर्वत्र घटना चाहिए । यदि स्वीकृत अर्थ कहीं घटता है और कहीं नहीं तो यह समझ लेना चाहिए कि अर्थ में अवश्य कोई दोष है । यहां प्रथम मन्त्र में असम्भूति और सम्भूति पद हैं । द्वितीय मन्त्र में इन्हीं के पर्यायवाची असम्भव और सम्भव पद हैं । तृतीय मन्त्र में असम्भूति का पर्यायवाची 'विनाश' पद है । सम्भूति शब्द प्रथम मन्त्र के तुल्य वही है । श्री उव्वट ने द्वितीय मन्त्र में असम्भव और सम्भव पद का कोई अर्थ नहीं किया। तृतीय मन्त्र में सम्भूति का अर्थ परब्रह्म और विनाश का अर्थ विनाशी शरीर किया है । यहां तृतीय मन्त्र में सम्भूति का एक नया अर्थ और कर डाला–परब्रह्म । और विनाश पद का भी विनाशी शरीर प्रथम मन्त्र के अर्थ से भिन्न अर्थ किया है । । असम्भूति पद का प्रथम मन्त्र में अपुनर्जन्म तथा तृतीय मन्त्र में विनाशी शरीर । श्री उव्वट स्थान स्थान पर असम्भूति और सम्भूति का अर्थ बदल रहे हैं । अतः उनके किए पदार्थों पर स्वयम् उन्हें सन्तोष नहीं ।

श्री उव्वट ने सम्भूति पद का अर्थ प्रथम मन्त्र में आत्मज्ञान तथा तृतीय मन्त्र में परब्रह्म किया है । प्रथम मन्त्र में सम्भूति=आत्मज्ञान से घोर अन्धकार की प्राप्ति का वर्णन किया जा रहा है और तृतीय मन्त्र में सम्भूति=परब्रह्म के ज्ञान से अमृत की प्राप्ति बतलाई जा रही है । यह अर्थ परस्पर विरोधी होने से अशुद्ध है । और विनाश पद का जो शरीरग्रहण अर्थ किया है सो भी तर्कसंगत नहीं । शरीरग्रहण से मृत्यु का भय दूर नहीं होता, अपितु भय उत्पन्न होता है । अतः उव्वट के सम्भूति और असम्भूति पदों के अर्थ मिथ्या हैं ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथ विद्याऽविद्योपासनफलमाह ।।

अब विद्या और अविद्या की उपासना के फल का उपदेश किया जाता है ।।

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय ऽ इव ते तमो य ऽ उ विद्यायाᳬं रताः ॥१२॥

***पदार्थः*—(अन्धम्)** दृष्ट्यावरकम् **(तमः)** गाढमज्ञानम् **(प्र) (विशन्ति) (ये) (अविद्याम्)** अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्येति=ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद्भिन्नम् **(उपासते)** अभ्यस्यन्ति **(ततः) (भूय इव)** अधिक-मिव **(ते) (तमः)** अज्ञानम् **(ये)** पण्डितं मन्यमानाः **(उ)** (विद्यायाम्) शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे **(रताः)** रममाणाः ।।१२।।

***अन्वयः*—**ये मनुष्या अविद्यामुपासते तेऽन्धतमः प्रविशन्ति ये विद्यायां रतास्त उ ततो भूय इव तमः प्रविशन्ति ।।१२।।

***सपदार्थान्वयः*— ये मनुष्याः अविद्याम्** अनित्याशुचि-दु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-ख्यातिरविद्येति=ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु=कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद्भिन्नम् **उपासते** अभ्यस्यन्ति; **तेऽन्धं** दृष्ट्या-वरकं **तमः** गाढमज्ञानं प्रविशन्ति ।

***भाषार्थ*—**(ये) जो मनुष्य (अविद्याम्) अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दु:ख को सुख अनात्मा को आत्मा जानना रूप अविद्या है, अतः ज्ञानादि गुणों से रहित, कार्यकारण रूप परमेश्वर से भिन्न जड़ वस्तु की (उपासते) उपासना करते हैं (ते) वे (अन्धम्) ज्ञानदृष्टि को ढकने वाले (तमः) गाढ़ अज्ञान में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं । और–

ये पण्डितं मन्यमाना **विद्यायां** शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानमात्रेऽवैदिके आचरणे **रताः** रममाणाः **त उ ततः भूय इव** अधिकमिव **तमः** अज्ञानं **प्रविशन्ति** ।।४०।१२।।

(ये) जो अपने आपको पण्डित मानने वाले (विद्यायाम्) शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के जानने मात्र तथा अवैदिक आचरण में (रताः) रमण करते हैं (ते) वे (उ) निश्चय ही (ततः) उससे (भूयः इव) कहीं अधिक (तमः) अज्ञान में प्रविष्ट होते हैं ।।१२।।

***भावार्थः*—** अत्रोपमा-लङ्कारः । यद्यच्चेतनं ज्ञानादिगुणयुक्तं वस्तु तज्ज्ञातृ, यदविद्यारूपं तज्ज्ञेयम्; यच्च चेतनं ब्रह्म विद्वदात्मस्वरूपं

***भावार्थ*—**यहां उपमा-लङ्कार है । जो-जो ज्ञानादि गुणों से युक्त चेतन वस्तु है, वह ज्ञाता; और जो अविद्यारूप है वह ज्ञेय कहलाता

वा तदुपासनीयं सेवनीयं च । यदतो भिन्नं तन्नोपासनीयं, किन्तूपकर्त्तव्यम्।

है । और जो चेतन ब्रह्म अथवा विद्वान् आत्मा है, उसी की उपासना और सेवा करनी चाहिए, और जो इससे भिन्न हैं, उसकी उपासना नहीं करनी चाहिए, किन्तु उससे उपकार ग्रहण करना चाहिए ।

ये मनुष्या अविद्याऽस्मिताराग-द्वेषाऽभिनिवेशक्लेशैर्युक्तास्ते परमेश्वरं विहायाऽतोभिन्नं जडं वस्तूपास्य महति दुःख-सागरे निमज्जन्ति ।

जो मनुष्य अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से युक्त हैं; वे परमेश्वर को छोड़कर इससे भिन्न जड़ वस्तु की उपासना करके महान् दुःखसागर में डूबते हैं ।

ये च शब्दार्थाऽन्वयमात्रं संस्कृतमधीत्य सत्यभाषण-पक्षपात-रहितन्यायाचरणाख्यं धर्मं नाऽऽ-चरन्त्यभिमानाऽरूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्याविद्यामेव मन्यन्ते, ते चाऽ-धिकतमसि दुःखार्णवे सततं पीडिता जायन्ते ।।४०।१२।।

और जो शब्द, अर्थ, सम्बन्ध मात्र संस्कृत भाषा पढ़कर सत्यभाषण, पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म का आचरण नहीं करते, अपितु अभिमानी होकर विद्या का अपमान करके अविद्या का मान करते हैं, वे अत्यन्त अज्ञानरूप दुःखसागर में पड़े सदा दुःखी रहते हैं।।४०।१२।।

***भा० पदार्थः*—**अविद्याम्=परमेश्वराद्भिन्नं जडं वस्तु । विद्यायाम्=शब्दार्थाऽन्वयमात्रं संस्कृतमधीत्य सत्यभाषणपक्षपातरहितन्यायाचरणाख्य-धर्मस्याऽनाचरणे रताः=अभिमानारूढाः सन्तो विद्यां तिरस्कृत्याऽविद्यामेव मन्यमानाः । अन्धन्तमः=महद्दुःखसागरम् । भूयः=अधिकम् ।।४०।१२।।

***भाष्यसार*—विद्या और अविद्या की उपासना का फल**—जो अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा जानना रूप अविद्या है, अतः ज्ञानादि गुणों से रहित, कार्य कारणात्मक, परमेश्वर से भिन्न वस्तु की जो उपासना करते हैं वे घोर अज्ञान को प्राप्त होते हैं । अपने आपको पण्डित मानने वाले, विद्या अर्थात् शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के विज्ञानमात्र में तथा अवैदिक आचरण में रमण करते हैं, वे उससे भी कहीं अधिक अज्ञान को प्राप्त होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि चेतन आत्मा ज्ञानादि गुणों से युक्त ज्ञाता है । ज्ञानादि गुणों से रहित अविद्या रूप वस्तु ज्ञेय है । चेतन ब्रह्म उपासनीय है और विद्वानों का आत्मा सेवा करने योग्य है । विद्या अर्थात् चेतन ब्रह्म और आत्मा से भिन्न अर्थात् अविद्या (जड़) वस्तु उपासना के योग्य नहीं होती किन्तु उपकार लेने योग्य होती है ।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश पांच क्लेश हैं । इनसे युक्त मनुष्य परमेश्वर को छोड़कर उनसे भिन्न जड़ (अविद्या) वस्तु की उपासना करते हैं, वे महान् दु:खसागर में डूबते हैं । और जो शब्द, अर्थ, सम्बन्धमात्र संस्कृत पढ़कर सत्यभाषण, पक्षपात रहित न्यायाचरण रूप धर्म का आचरण नहीं करते, अभिमानी होकर विद्या (चेतन ब्रह्म) का तिरस्कार करके अविद्या (जड़ पदार्थ) को ही अधिक मानते हैं; वे अधिक अन्धकार रूप दु:खसागर में सदा पीड़ित रहते हैं ।।४०।१२।।

समीक्षा—(क) ईशावास्योपनिषद् में नवम मन्त्र यजुर्वेद में ४०।१२वां मन्त्र है । यहां स्थानभेद होते हुए भी पाठभेद नहीं है । इस मन्त्र का अर्थ करते हुए श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—(क) "उनमें वे तो अदर्शनात्मक अन्धकार में प्रवेश करते हैं । कौन ? जो अविद्या=विद्या से अन्य अविद्या अर्थात् कर्म (केवल अग्निहोत्रादिरूप अविद्या ही) की उपासना करते हैं अर्थात् तत्पर होकर कर्म का ही अनुष्ठान करते रहते हैं । क्योंकि कर्म विद्या के विरोधी हैं तथा उस अन्धकार से भी कहीं अधिक अन्धकार में वे प्रवेश करते हैं, कौन ? जो कर्म करना छोड़कर केवल विद्या अर्थात् देवता-ज्ञान में ही रत हैं ।"[१]

(ख) "सो कर्म के सम्बन्धीरूप से यहां देववित्त अर्थात् देवता सम्बन्धी ज्ञान का ही उल्लेख हुआ है, परमात्मज्ञान का नहीं । क्योंकि 'विद्या से देवलोक प्राप्त होता है, ऐसा पृथक् फल सुना गया है ।"[२]

---

१. "तत्र अन्धन्तम:=अदर्शनात्मकं तम: प्रविशन्ति । के ? येऽविद्यां विद्याया अन्या अविद्या तां कर्म इत्यर्थ:; कर्मणो विद्याविरोधित्वात् । तामविद्याम् अग्निहोत्रादिलक्षणामेव केवलामुपासते तत्परा: सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्य-भिप्राय: । ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव बहुतरमेव ते तम: प्रविशन्ति, के ? कर्म हित्वा ये उ=ये तु विद्यायामेव=देवताज्ञान एव रता: अभिरता:।"

२. "तदिहोच्यते यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम् । 'विद्यया देवलोक:' (बृ० उ० १।५।१६) इति पृथक् फलश्रवणात् ।" (ईशावास्यो० मं० ९ । शा० भा०)

समीक्षा—मन्त्र में 'अन्धम्' 'तमः' दो शब्द पठित हैं । दोनों ही अन्धकार के वाचक हैं । 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते इति' यास्काचार्य के मतानुसार महर्षि दयानन्द ने 'ज्ञान दृष्टि को ढकने वाला अज्ञान' अर्थ किया है । किन्तु शाङ्करभाष्य में 'अदर्शनात्मक अन्धकार' अर्थ किया है। इसमें अर्थगाम्भीर्य प्रकट नहीं होता है । क्योंकि 'तमः' तो होता ही अदर्शनात्मक है । और मन्त्र में 'उपासते' क्रिया पठित है, जिससे स्पष्ट है कि इस मन्त्र में जो निषेध किया है, वह उपासना विरोधी ही होना चाहिए । जैसे परमात्मा उपासनीय है, उससे भिन्न जड़ादि वस्तुओं के उपासक अज्ञानान्धकार में गिरते हैं, यह अर्थ तो उचित है । विद्या से जड़वस्तुएं शून्य होती हैं । उनकी उपासना अज्ञानान्धकार में ले जाती है। और जो विद्या में लगे हैं, वे उनसे भी अधिक अन्धकार को प्राप्त करते हैं । यहां 'विद्या' का अर्थ शाङ्कर-भाष्य में 'देवता-ज्ञान' किया है । और इसके लिए 'विद्यया देवलोकः' का प्रमाण भी उद्धृत किया है । प्रथम तो यह प्रमाण उनकी बात की पुष्टि नहीं करता । क्योंकि (बृ० उ० १।५।१६) में पूरा वाक्य इस प्रकार है—

"त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः, देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति ।"

इस प्रमाण में तीनों लोकों का वर्णन है और वे कहीं अन्यत्र नहीं हैं, इसी संसार में हैं । साधारणरूप से मनुष्यों को मनुष्यलोक, रक्षक (विद्या या बल से) होने से विशिष्ट मनुष्यों को पितृलोक और विद्वानों को देवलोक कहते हैं । और इन सबके साथ 'जय्यः=जीतना चाहिए, क्रिया का संयोग है । जो पितर=रक्षक हैं, उनको कर्म से जीता जा सकता है । क्योंकि वे अनवरत कार्यरत होते हैं । विद्वानों को विद्या से जीता जा सकता है । इसमें कर्म और विद्या में क्या विरोध हुआ ? कर्म से अभिप्राय श्री शङ्कराचार्य का 'अग्निहोत्रादि' से है, क्या ये विना विद्या के ही सम्भव हैं ? और जो विद्या में रत हैं, क्या उन्हें कर्म नहीं करना पड़ता । विद्या और कर्म को परस्पर विरुद्ध बताना नितान्त असत्य धारणा है, और यह कथन उपनिषत् के मन्त्र के भी विरुद्ध है । इसी उपनिषद् में विद्या और अविद्या को साथ-साथ जानने का आगे फल भी लिखा है—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।" अर्थात् अविद्या से मृत्यु

को पार करके विद्या से अमृत=परमात्मा को प्राप्त करता है । श्री शङ्कराचार्य जी ने भी इस का यही अर्थ लिखा है । इसमें कर्म और विद्या में कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं ।

'विद्या से देवताज्ञान' में शङ्कराचार्य जी का क्या आशय है, यह उन्होंने अस्पष्ट ही छोड़ दिया है । 'देवता' से यदि सर्वोत्तम महादेव परमात्मा का ग्रहण करते हैं अथवा परमात्मा से भिन्न देवों का ग्रहण करते हैं तो भी ज्ञानोन्मुख होने से महान्धकार में क्यों गिरेंगे ? जड़ व चेतन उभयविध देवों को जानने से अज्ञान कैसे होगा ? 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा' इस निरुक्त के प्रमाण से देव दूसरों को विद्या या प्रकाशादि से प्रकाशित ही करते हैं, अतः 'अज्ञान में गिरना' यह अर्थ बुद्धिगम्य नहीं है । महर्षि दयानन्द की व्याख्या तर्कसंगत है कि जो विद्यार्जन में तो लगा है, किन्तु तदनुकूल आचरण नहीं करता, वह न जानने वाले की अपेक्षा अधिक दोषी है, अतः जानबूझकर कर्म न करने से वह अधिक अज्ञानी है । और विद्या पढ़कर मिथ्या अभिमानी होने से तदनुकूल आचरण न करना विद्या का स्पष्टरूप से तिरस्कार है । इसलिए मन्त्र में उन्हें महान्धकार अर्थात् दुःखसागर में गोते लगाने की बात कही है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ।।

अथ जड-चेतनयोर्विभागमाह ।।

अब जड़-चेतन का विभाग कहते हैं ।।

अन्यदेवाहुर्विद्याया ऽ अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१३।।

***पदार्थः*—(अन्यत्)** अन्यदेव कार्यं फलं वा **(एव) (आहुः)** कथयन्ति **(विद्यायाः)** पूर्वोक्तायाः **(अन्यत्) (आहुः) (अविद्यायाः)** पूर्वमन्त्रेण प्रतिपादितायाः **(इति) (शुश्रुम)** श्रुतवन्तः **(धीराणाम्)** आत्मज्ञानां विदुषां सकाशात् **(ये) (नः)** अस्मभ्यम् **(तत्)** विद्याऽविद्याजं फलं द्वयोः स्वरूपं वा **(विचचक्षिरे)** व्याख्यातवन्तः ।।१३।।

***अन्वयः*—**हे मनुष्याः ! ये विद्वांसो नो विचचक्षिरे । विद्याया अन्यदाहुरविद्याया अन्यदेवाहुरिति, तेषां धीराणां तद्वचो वयं शुश्रुमेति विजानीत ।।१३।।

सपदार्थान्वयः— हे मनुष्याः ! ये विद्वांसो (नः) अस्मभ्यं **(विचचक्षिरे)** व्याख्यातवन्तः, **(विद्यायाः)** पूर्वोक्तायाः **(अन्यत्)** अन्यदेव कार्यं फलं वा **(आहुः)** कथयन्ति । **(अविद्यायाः)** पूर्वमन्त्रेण प्रतिपादितायाः **(अन्यत्)** अन्यदेव कार्यं फलं वा **(एवाहुः)** कथयन्ति इति तेषां **(धीराणाम्)** आत्मज्ञानां विदुषां सकाशात् **(तत्)** विद्याऽविद्याजं फलं द्वयोः स्वरूपं वा वचो वयं **(शुश्रुम)** श्रुतवन्तः, इति विजानीत ।।४०।१३।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जो विद्वान् लोग (नः) हमारे लिए (विचचक्षिरे) बतला गए हैं कि (विद्यायाः) पूर्वमन्त्र में कही विद्या का (अन्यत्) और ही कार्य वा फल होता है, ऐसा (आहुः) कहते हैं । (अविद्यायाः) पूर्वमन्त्र में प्रतिपादित अविद्या का (अन्यत्) और ही फल होता है, ऐसा उन (धीराणाम्) आत्मज्ञानी विद्वानों के पास से (तत्) उपदेश हमने (शुश्रुम) सुना है, ऐसा तुम जानो ।।४०।१३।।

भावार्थः—ज्ञानादिगुण-युक्तस्य चेतनस्य सकाशाद् य उपयोगो भवितुं योग्यो न स अज्ञानयुक्तस्य जडस्य सकाशात्, यच्च जडात् प्रयोजनं सिध्यति, न तच्चेतनादिति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्वत्सङ्गेन, विज्ञानेन, योगेन, धर्माचरणेन चाऽनयोर्विवेकं कृत्वोभयोरुपयोगः कर्त्तव्यः ।।४०।१३।।

भावार्थ—ज्ञान आदि गुण से युक्त चेतन से जो उपयोग लिया जा सकता है, वह अज्ञानयुक्त जड़ वस्तु से नहीं । और जो जड़-वस्तु से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह चेतन से नहीं हो सकता । ऐसा सब मनुष्यों को विद्वानों के सङ्ग, विज्ञान, योग और धर्माचरण से इन दोनों का विवेचन करके जड़ और चेतन दोनों का ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिए ।।

भा० पदार्थः—विद्याया=ज्ञानादिगुणस्य । अविद्यायाः=अज्ञानादि-गुणस्य ।।

भाष्यसार—**जड़ और चेतन का विभाग—**विद्वान् मनुष्यों ने पूर्व मन्त्रोक्त विद्या (चेतनवस्तु) का अविद्या से अन्य (भिन्न) ही कार्य वा फल बतलाया है । पूर्व मन्त्रोक्त अविद्या (जड़वस्तु) का विद्या से अन्य (भिन्न) ही कार्य या फल बतलाया है । आत्मज्ञानी विद्वानों से विद्या और अविद्या से उत्पन्न फल तथा उनका स्वरूप हम भिन्न-भिन्न सुनते हैं ।

तात्पर्य यह है कि विद्या अर्थात् ज्ञानादिगुणों से युक्त चेतन से जो उपयोग लिया जा सकता है, वह अविद्या अर्थात् अज्ञानयुक्त जड़ पदार्थ से नहीं । और जो अविद्या अर्थात् जड़ पदार्थ से प्रयोजन सिद्ध होता है, वह विद्या अर्थात् चेतन पदार्थ से नहीं । इसलिए सब मनुष्य विद्वानों के सङ्ग से विज्ञान, योग और धर्माचरण से विद्या और अविद्या का विवेचन करें तथा इनका यथावत् उपयोग करें ।।४०।१३।।

समीक्षा—ईशावास्योपनिषद् में १०वां मन्त्र यजुर्वेद में १३वां मन्त्र है । स्थानभेद होते हुए इस मन्त्र में पाठभेद भी है । वेद में 'विद्याया:' और 'अविद्याया:' पाठ हैं और उपनिषद् में इनके स्थान पर तृतीयान्त 'विद्यया' और 'अविद्यया' पाठ है । इस पाठभेद से अर्थ में कोई अन्तर नहीं हुआ है । इस मन्त्र में जो विद्या और अविद्या के भिन्न-भिन्न फलों की चर्चा की है, उससे उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है । शङ्कराचार्य जी की यह मान्यता कि कर्म और विद्या में पर्वत के समान, अविचल विरोध है, यह बिल्कुल भ्रान्तिमूलक है । यथार्थ में विरोध कहां होता है ? इसी बात को ही वे नहीं समझ सके । एक ही विषय में दो विरोधी बातें हों तो विरोध होता है, और भिन्न-भिन्न विषयक बातों में विरोध कैसा ?

और जब विद्या व अविद्या के फलों में 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' कोई विरोध नहीं है, तब उनमें विरोध कैसा? अविद्या= विद्या से भिन्न कर्म अथवा ज्ञानरहित जड़ पदार्थों के उपयोग का फल दूसरा है, और विद्या=ज्ञान अथवा विद्यादियुक्त चेतन को जानने का फल दूसरा है । इस का अभिप्राय यही है कि मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जड़-चेतन का ज्ञान अथवा विद्या व कर्म को जानना परमावश्यक है । सांसारिक पदार्थों को यथार्थ रूप में जानने से मनुष्य उनका ठीक-ठीक उपयोग करता है, और उनको साधन बनाकर ही अपने लक्ष्य की तरफ बढ़ता रहता है, और चेतन (विद्या से युक्त) परमात्मा को जानने से अमृत=मोक्ष की प्राप्ति होती है । इनमें परस्पर कुछ भी विरोध नहीं है।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । स्वराडुष्णिक् ऋषभः ।।

पुनस्तमेव विषयमाह ।।

जड़ और चेतन के विभाग का फिर उपदेश किया है ।।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं॑ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥१४॥

***पदार्थः*—(विद्याम्)** पूर्वोक्ताम् **(च)** तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् **(अविद्याम्)** प्रतिपादितपूर्वाम् **(च)** एतदुपयोगिसाधनकलापम् **(यः) (तत्) (वेद)** विजानीत **(उभयम्) (सह) (अविद्यया)** शरीरादिजडेन पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन **(मृत्युम्)** मरणदुःखभयम् **(तीर्त्वा)** उल्लङ्घ्य **(विद्यया)** आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन **(अमृतम्)** नाशरहितं स्वस्वरूपं परमात्मानं वा **(अश्नुते)**।।१४।।

***अन्वयः*—**यो विद्वान् विद्यां चाऽविद्यां च तदुभयं सह वेद सोऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।१४।।

***सपदार्थान्वयः*—यो** = **विद्वान् विद्यां** पूर्वोक्तां **च** तत्सम्बन्धिसाधनोपसाधनम् **अविद्यां** प्रतिपादितपूर्वां **च** एतदुपयोगिसाधन-कलापं **तदुभयं सह वेद** विजानीत **सोऽविद्यया** शरीरादिजडेन पदार्थ-समूहेन कृतेन पुरुषार्थेन **मृत्युं** मरण-दुःखभयं **तीर्त्वा** उल्लङ्घ्य **विद्यया** आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोगधर्मजनितेन यथार्थदर्शनेन **अमृतं** नाशरहितं स्व-स्वरूपं परमात्मानं वा **अश्नुते**।।४०।१४

***भाषार्थ*—**(यः) जो विद्वान् (विद्याम्) पूर्वमन्त्र में कही विद्या, (च) और उसके साधन उपसाधनों को तथा (अविद्याम्) पूर्व प्रतिपादित अविद्या (च) और उसके उपयोगी नाना साधनों (तत्, उभयम्, सह) उन दोनों को साथ-साथ (वेद) जानता है; (सः) वह (अविद्यया) शरीर आदि जड़ पदार्थों के द्वारा किये पुरुषार्थ से (मृत्युम्) प्राण-त्याग में होने वाले दुःख के भय को (तीर्त्वा) पार करके (विद्यया) आत्मा और शुद्ध-अन्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान से (अमृतम्) अविनाशी आत्मस्वरूप को अथवा परमात्मा को (अश्नुते) प्राप्त करता है ।।१४।।

***भावार्थः*—**ये मनुष्या विद्याऽविद्ये स्वरूपतो विज्ञायाऽनयो-र्जडचेतनौ साधकौ वर्त्तेते, इति

***भावार्थ*—**जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानकर और इनके जड़ एवं चेतन पदार्थ

निश्चित्य सर्वं शरीराऽऽदिजडं चेतनमात्मानं च धर्मार्थ-काममोक्ष-सिद्धये सहैव सम्प्रयुज्यन्ते, ते लौकिकं दु:खं विहाय पारमार्थिकं सुखं प्राप्नुवन्ति ।

साधक हैं; ऐसा निश्चय करके शरीर आदि जड़ और चेतन आत्मा का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए एक साथ प्रयोग करते हैं; वे लोग लौकिक दु:ख से छूटकर पारमार्थिक सुख (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ।

यदि जडं प्रकृत्यादिकारणं शरीरादिकार्यं वा न स्यात्तर्हि परमेश्वरो जगदुत्पत्तिं, जीवः कर्मोपासने ज्ञानं च कर्त्तुं कथं शक्नुयात् ?

यदि जड़ (अविद्या) प्रकृति आदि कारणवस्तु अथवा शरीर आदि कार्यवस्तु न हो तो परमात्मा जगत् की उत्पत्ति तथा जीव कर्म, उपासना और ज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकते हैं ।

तस्मान्न न केवलेन जडेन, न च केवलेन चेतनेन; अथवा न केवलेन कर्मणा न च केवलेन ज्ञानेन कश्चिदपि धर्मादिसिद्धिं कर्त्तुं समर्थो भवति ।।४०।१४।।

इसलिए न केवल जड़ (अविद्या) के द्वारा और न केवल चेतन (विद्या) के द्वारा; अथवा न केवल कर्म (अविद्या) के द्वारा और न केवल ज्ञान (विद्या) के द्वारा कोई भी व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर सकता है ।।४०।१४।।

भा० पदार्थः—मृत्युम्=लौकिकं दु:खम् । तीर्त्वा=विहाय । अमृतम्=पारमार्थिकं सुखम् । अश्नुते=प्राप्नोति । अविद्याम्=कर्मोपासने । विद्याम्=ज्ञानम् ।।४०।१४।।

***भाष्यसार*—१. जड़ और चेतन का विभाग**—जो विद्वान् पूर्व मन्त्रोक्त विद्या (चेतन वस्तु) और तत्सम्बन्धी साधन-उपसाधन तथा पूर्व में प्रतिपादित अविद्या (जड़ वस्तु) और उसके उपयोगी सब साधनों को साथ-साथ जानता है । वह अविद्या अर्थात् शरीरादि जड़ पदार्थों से किये पुरुषार्थ के द्वारा मृत्यु के दु:ख को पार कर सकता है; और विद्या अर्थात् आत्मा और अन्त:करण के संयोग से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान (दर्शन) से अमृत अर्थात् अविनाशी आत्मस्वरूप तथा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को समझें जड़ और चेतन पदार्थ इनके साधक हैं; ऐसा निश्चय करें। शरीर आदि जड़ वस्तु (अविद्या), और चेतन आत्मा (विद्या) का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए साथ-साथ उपयोग करें। लौकिक दु:ख (मृत्यु) को छोड़कर पारमार्थिक सुख (अमृत=मोक्ष) को प्राप्त करें।

२. जड़ और चेतन की आवश्यकता—यदि अविद्या अर्थात् जड़ प्रकृति आदि कारण वस्तु अथवा शरीरादि कार्य वस्तु न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति नहीं कर सकता और जीव कर्म, उपासना और ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए न केवल जड़ (अविद्या) और न केवल चेतन (विद्या) अथवा न केवल कर्म (अविद्या) और न केवल ज्ञान (विद्या) से कोई भी मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि कर सकता है। अत: विद्या और अविद्या दोनों का सह-ज्ञान आवश्यक है ।।४०।१४।।

अन्यत्र व्याख्यात—"विद्यां चाविद्यां च०" (यजु० ४०।१४)।। जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही जानता है; वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। (सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषद् में ११वां मन्त्र यजुर्वेद में १४ वें स्थान पर है। इनमें स्थानभेद होते हुए भी कोई पाठ-भेद नहीं है। इस मन्त्र के अर्थ में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"विद्या और अविद्या अर्थात् देवताज्ञान और कर्म, इन दोनों को जो एक साथ एक ही पुरुष से अनुष्ठान किए जाने योग्य जानता है, इस प्रकार समुच्चय करने वाले को ही एक पुरुषार्थ का सम्बन्ध क्रमश: होता है। अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म से मृत्यु=स्वाभाविक कर्म और ज्ञान इन दोनों को तरकर=पार करके विद्या=देवताज्ञान से अमृत=देवतात्मभाव को प्राप्त हो जाता है।"[१]

"अन्धन्तम: प्रविशन्ति०' मन्त्र के भाष्य में कर्म व ज्ञान में

---

(१) "विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थ:, यस्तदेतदुभयं सहैकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एव एक पुरुषार्थसम्बन्ध: क्रमेण स्यादित्युच्यते। अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना, मृत्युम्=स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा=अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेनामृतं देवतात्मभावमश्नुते=प्राप्नोति।" (ईशावा० मं० ११। शा० भा०)

अविचलित विरोध मानकर श्री शङ्कराचार्य जी ने लिखा है—कर्म के सम्बन्धीरूप से यहां दैव वित्त अर्थात् **देवतासम्बन्धी ज्ञान का ही उल्लेख हुआ है, परमात्मज्ञान का नहीं ।**" परन्तु यहां कर्म और ज्ञान का क्रमशः समुच्चय मान लिया है । इससे स्पष्ट है, कर्म व ज्ञान में विरोध नहीं हो सकता । क्योंकि क्रमिक ज्ञान में प्रथम बातों को सहायक ही मानना चाहिए, विरोधी नहीं ।

और 'मृत्यु' पद का अर्थ 'स्वाभाविक कर्म व ज्ञान' करना पूर्वाग्रह को ही प्रकट करते हैं । 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग 'शरीर-वियोग' या 'दुःख' अर्थ में होता है । 'मृत्यु' शब्द का 'स्वाभाविक कर्म व ज्ञान' अर्थ आश्चर्यचकित ही करता है । क्योंकि किसी शास्त्र में भी ऐसा अर्थ अभिप्रेत नहीं है—'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से 'मृत्यु' शब्द बना है, अतः 'प्राण-वियोग' ही अर्थ करना उचित है ।[१] और 'स्वाभाविक कर्म व ज्ञान' किसके हैं ? जीवात्मा के या परमात्मा के? जीवात्मा की सत्ता को आप स्वीकार ही नहीं करते तो क्या परमात्मा अपने स्वाभाविक कर्मों वा ज्ञान को त्याग देता है ? और जो जिसका स्वाभाविक कर्म व ज्ञान होता है, क्या वह दूर हो सकता है ? दर्शन-शास्त्र के अनुसार नैमित्तिक गुणों व कर्मों का तो त्याग हो जाता है, स्वाभाविक का नहीं ।

और 'अमृतम्' का अर्थ भी आपने 'देवतात्म-भाव' किया है । जो कि परमात्मज्ञान या मोक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि 'अन्धन्तमः०' मन्त्र में आप स्वयं निषेध कर चुके हैं । तो 'देवतात्मभाव' यह कौन सी अवस्था है ? क्या विद्या=ज्ञान से परमात्मा का ज्ञान या मोक्ष प्राप्त नहीं होता ? अथवा पूर्वोक्त कथित-बात से विरोध समझकर सत्यार्थ का ही परित्याग कर दिया ? पीछे 'असुर्या नाम ते लोकाः' मन्त्र में विद्वान् और अविद्वान् दो भेद किए थे कि अविद्वान् आत्मा का हनन करते हैं और विद्वान् लोग मुक्त हो जाते हैं । किन्तु यहां विद्या से भी मुक्ति नहीं मान रहे, क्या ये परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं ?

---

(१) शरीर से जीवात्मा के वियोग को ही मृत्यु मानते हुए छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है—

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते ।।

(छा० प्रपा० ६ । खं० ११ । प्रवाक ३)

अर्थात् जीव के पृथक् होने पर यह शरीर मर जाता है, जीवात्मा नहीं मरता है ।

और यदि 'देवतात्मभाव' से यह अभिप्राय हो कि परमात्मा से भिन्न देवों की उपासना से 'अमृत' को प्राप्त करता है, तब भी यह वेद-विरुद्ध मान्यता है । वेद में तो कहा है कि–'तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति' (य० ३१।१८) उस एक परमात्मा को जानकर ही मृत्युदु:ख से छुटकारा पाता है । और जिस अविद्या=कर्म से अन्धन्तम:= अन्धकारावृत नरक की प्राप्ति मानी थी, क्या वे ही कर्म मृत्यु को तरने के साधन बन सकते हैं ? क्या मृत्यु का तरना और अन्धकार आवृत लोकों का प्राप्त करना एक ही बात है ? अत: अविद्या शब्द की सङ्गति शाङ्कर-भाष्य से नहीं लग पाती । महर्षि दयानन्द ने इस समस्या का उपयुक्त समाधान किया है । जहां पर अविद्या से अन्धन्तम लोक में जाना लिखा है, वहां अविद्या का अर्थ है–ज्ञानादिगुणरहित जड़ की उपासना । और जहां अविद्या से मृत्यु को पार करना लिखा है, वहां अविद्या का अर्थ है–ज्ञानादिगुणरहित शरीरादि जड़ पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करने के लिए किया पुरुषार्थ । 'मृत्यु' क्या है ? प्राकृतिक पदार्थों के स्वरूप को न समझकर उनमें फंसे रहना, मृत्यु को पार करना क्या है ? जड़ वस्तुओं के स्वरूप को समझकर उनके जाल से अपने को बचाना । इसलिए दोनों स्थानों पर 'अविद्या' शब्द का 'अग्निहोत्रादि कर्म' अर्थ करना शाङ्कर-भाष्य की बहुत बड़ी भूल है । जिससे अनेक प्रकार की भ्रान्तियां ही उत्पन्न होती हैं ।

योगदर्शन में अविद्या का लक्षण यह किया है–

अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (यो० २।५)

अर्थात् अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दु:ख में सुख और अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या है । इस अविद्या के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने से मनुष्य मृत्यु से बच जाता है । अत: अविद्या का अर्थ महर्षि-दयानन्द कृत ही उपयुक्त तथा सुसङ्गत है ।

ईशावास्योपनिषद् के ९, १०, तथा ११वें मन्त्र में (यजुर्वेद के १०, १३, १४वें में) विद्या और अविद्या के उपयोग को समझाया गया है । इनमें प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि जो लोग अविद्या की उपासना करते हैं, वे गाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं और जो विद्या अर्थात् शब्दार्थ-सम्बन्धबोधमात्र में रत हैं, वे उनसे भी कहीं अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं ।

यहां दूसरे मन्त्र में यह कहा गया है कि जिन मेधावी विद्वान् योगी जनों ने हमारे लिए विद्या और अविद्या का उपदेश किया है, उनसे हमने ऐसा सुना है कि विद्या का कुछ और फल है और अविद्या का कुछ और फल है । और तीसरे मन्त्र में विद्या और अविद्या के फल का उपदेश किया गया है । अर्थात् जो विद्वान् विद्या और अविद्या को साथ-साथ जान लेता है, वह अविद्या से मृत्यु के भय को पार करके विद्या से अमृत=मोक्ष को प्राप्त करता है ।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि विद्या और अविद्या का यहां क्या अभिप्राय है ? महर्षि दयानन्द ने अविद्या का अर्थ परमात्मा से भिन्न ज्ञानादिगुणों से रहित कार्य-कारणात्मक जड़-वस्तु किया है, जो अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मस्वरूप हैं । जिन्हें अज्ञानवश मनुष्य नित्य, शुचि, सुख और आत्मस्वरूप समझ लेता है । और विद्या से अभिप्राय शब्दार्थ सम्बन्ध का ज्ञान है । इस महर्षि-व्याख्यात विद्या-अविद्या का आत्मा के लिए क्या उपयोग है ? प्रथम मन्त्र में यह उपदेश किया है कि अविद्या आत्मा के लिए उपासना की वस्तु नहीं है । जो अविद्या की उपासना करते हैं वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप क्लेशों से छूट नहीं सकते । और जो मनुष्य शब्दार्थ सम्बन्ध विज्ञान में रत हैं और सत्यभाषण व न्यायाचरण रूप धर्म का अनुष्ठान नहीं करते और मिथ्याभिमानवश विद्या का तिरस्कार करते हैं, वे उनसे भी अधिक घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा के लिए अविद्या=जड़वस्तु की उपासना और विद्या=शब्दार्थसम्बन्ध बोधमात्र दोनों ही उपादेय नहीं हैं । आत्मा के लिए मोक्षप्राप्ति के अर्थ एकमात्र परमात्मा ही उपासनीय है ।

यहां प्रथममन्त्र में अविद्या की उपासना तथा विद्या में अनुरत होने का निषेध तो कर दिया है, किन्तु उनका उपयोग नहीं बतलाया । इस जिज्ञासा का उत्तर दूसरे और तीसरे मन्त्रों (१३-१४) में दिया गया है । दूसरे मन्त्र में कहा है कि अविद्या=जड़वस्तु का फल अन्य है और विद्या का फल दूसरा है । उनका फल क्या है, यह नहीं बताया । जिसे न समझकर श्री शङ्कराचार्य जी ने विद्यया देवलोकः' आदि प्रमाण उद्धृत किए । किन्तु तीसरे मन्त्र में उस फल का स्वयं मन्त्र में उपदेश किया गया है । अविद्या और विद्या आत्मा के लिए अत्यन्त उपयोगी वस्तु हैं

उपासना की नहीं । आत्मा को अविद्या व विद्या का साथ-साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ऐसा मन्त्र में उपदेश है । अर्थात् इन दोनों में से किसी को भी छोड़ें नहीं । वेदादि शास्त्रों के अध्ययन एवं विद्वानों के सङ्ग से इनका उपयोग करना अवश्य सीखें । अविद्या=जड़वस्तु के सदुपयोग से (उपासना से नहीं) आत्मा मृत्यु के भय को पार कर जाता है और विद्या के सदुपयोग से अमृत=मोक्ष को प्राप्त कर सकता है ।

शाङ्कर-भाष्य में अविद्या का अर्थ अग्निहोत्रादि कर्म तथा विद्या का अर्थ देवता-ज्ञान किया है । यह उनकी व्याख्या अपूर्ण है । ज्ञान, कर्म, तथा उपासना तीन वस्तु हैं । मन्त्र में विद्या व अविद्या दो ही हैं। विद्या का अर्थ ज्ञान है तो अविद्या का क्या अर्थ होगा ? उत्तर स्पष्ट है कि ज्ञान से भिन्न कर्म और उपासना । महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश (नवम समुल्लास) में अविद्या का अर्थ कर्म व उपासना किया है । वे लिखते हैं—"कर्म और उपासना अविद्या इसलिए हैं कि यह बाह्य और अन्तर क्रिया विशेष ही हैं ज्ञान विशेष नहीं ।" अतः अविद्या का अर्थ केवल कर्म नहीं उपासना भी है । विद्या का अर्थ भी उनका 'देवता ज्ञान' अस्पष्ट है । परमात्मा से भिन्न यह देवता-ज्ञान क्या है ?

दूसरे मन्त्र में अविद्या व विद्या के भिन्न भिन्न फल कहे हैं, किन्तु क्या फल हैं ? यह नहीं बतलाया गया है । किन्तु यहां श्री शङ्कराचार्य जी ने बृहदा० के प्रमाण देकर विद्या से देवलोक की प्राप्ति तथा अविद्या=कर्म से पितृलोक की प्राप्ति का उल्लेख कर दिया है । ये मूल-मन्त्रों से विपरीत होने से मान्य नहीं हो सकते । तृतीय-मन्त्र में विद्या व अविद्या के फलों का स्पष्ट उल्लेख है । अतः दूसरे मन्त्र की व्याख्या में कल्पित फलों का उल्लेख करना मन्त्रार्थ को न समझना ही है । अथवा अपनी कल्पना को बलात् मिलाना है ।

तीसरे मन्त्र की व्याख्या में मृत्यु=स्वाभाविक कर्म और ज्ञान, विद्या=देवताज्ञान तथा अमृत=देवतात्मभाव, ये तीनों अर्थ शाङ्कर-भाष्य में निराधार व काल्पनिक होने से मान्य नहीं हो सकते । 'मृत्यु' शब्द 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु से बना है, अतः इसका अर्थ है—प्राणों का त्याग करना और 'अमृत' शब्द का अर्थ है—प्राण-त्याग का अभाव अर्थात् जन्म-मरण का अभाव । और यह अवस्था मोक्ष में ही होती है । अतः अमृत का अर्थ मोक्ष है । इसी प्रकार विद्या अर्थ का 'देवता-ज्ञान' काल्पनिक ही है ।

समीक्षा—श्री उव्वट महोदय ने विद्या का अर्थ आत्मज्ञान तथा अविद्या का अर्थ कर्म किया है । वे लिखते हैं—"विद्यां च आत्मज्ञानं च अविद्यां च कर्म च० ।"

अर्थ—विद्या अर्थात् आत्मज्ञान, अविद्या अर्थात् कर्म । (उव्वटभाष्य)

यहां उव्वटभाष्य में १२वें मन्त्र में तो विद्या अर्थात् आत्मज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म से घोर अन्धकार की प्राप्ति बतलाई जा रही है । और १४वें मन्त्र में उक्त विद्या (आत्मज्ञान) से मोक्ष की प्राप्ति तथा अविद्या (कर्म) से मृत्यु पर विजय का वर्णन किया जा रहा है । श्री उव्वट इन तीनों मन्त्रों की ठीक-ठीक सङ्गति नहीं लगा सके । उक्त विरोध का उनके भाष्य में कोई परिहार नहीं । यही दोष महर्षि के वेदभाष्य को छोड़ कर प्रायः सभी भाष्यों में उपलब्ध हो रहा है । १४वां मन्त्र १२वें मन्त्र का विरोध कर रहा है । इसका परिहार महर्षि के भाष्य में ही उपलब्ध होता है । परिहार यह है—१२वें मन्त्र में विद्या और अविद्या (कर्म, उपासना तथा जड़ वस्तु) की उपासना का निषेध है । जो लोग इनकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं । १४वें मन्त्र में विद्या और अविद्या को जानकर उसका ठीक-ठीक उपयोग करके उससे विशिष्ट फल प्राप्त करने का उपदेश है । अविद्या को जानकर आत्मा मृत्यु को पार करे तथा विद्या को जानकर आत्मा अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करे । महर्षि के भाष्य में विरोध का यह बड़ा ही सुन्दर समाधान है ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । स्वराड् उष्णिक् । ऋषभः ।।

अथ देहान्तसमये किं कार्य्यमित्याह ।

अब देहान्त के समय क्या करना चाहिए, यह उपदेश किया है ।।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ।।१५।।

पदार्थः—**(वायुः)** धनञ्जयादिरूपः **(अनिलम्)** कारणरूपं वायुम् **(अमृतम्)** नाशरहितं कारणम् **(अथ) (इदम्) (भस्मान्तम्)** भस्म अन्ते यस्य तत् **(शरीरम्)** यच्छीर्य्यते=हिंस्यते तदाश्रयम् **(ओ३म्)** एतन्नाम-वाच्यमीश्वरम् **(क्रतो)** यः करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ **(स्मर)** पर्य्यालोचय **(क्लिबे)** स्वसामर्थ्याय **(स्मर) (कृतम्)** यदनुष्ठितं तत् **(स्मर)** ।।१५।।

अन्वयः—हे क्रतो ! त्वं शरीरत्यागसमये (ओ३म्) स्मर, क्लिबे परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर, कृतं स्मर । अत्रस्थो वायुरनिलमनिलोऽमृतं धरति । अथेदं शरीरं भस्मान्तं भवतीति विजानीत ।।१५।।

सपदार्थान्वयः—**हे क्रतो!** यः करोति जीवस्तत्सम्बुद्धौ! **त्वं शरीरत्यागसमये ओ३म्** एतन्नाम-वाच्यमीश्वरं **स्मर** पर्य्यालोचय; **क्लिबे** स्वसामर्थ्याय **परमात्मानं स्वस्वरूपं च स्मर** पर्य्यालोचय; **कृतं** यदनुष्ठितं तत् **स्मर** पर्य्यालोचय।

भाषार्थ—हे (क्रतो) कर्म करने वाले जीव ! देहान्त के समय (ओ३म्) ओ३म्, यह जिसका निज नाम है उस ईश्वर को (स्मर) चारों तरफ देख; (क्लिबे) अपने सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए परमात्मा और अपने स्वरूप को (स्मर) याद कर; (कृतम्) और जो कुछ जीवन में किया है उसको (स्मर) स्मरण कर।

अत्रस्थो वायुः धनञ्जयादि-रूपः **अनिलम्** कारणरूपं वायुम् **अनिलोऽमृतं** नाशरहितं कारणं **धरति** ।

यहां विद्यमान (वायुः) धनञ्जयादि रूप वायु (अनिलम्) कारण रूप वायु को और अनिल (अमृतम्) नाशरहित कारण को धारण करता है ।

अथेदं शरीरं यच्छीर्य्यते= हिंस्यते तदाश्रयं **भस्मान्तं** भस्म अन्ते यस्य तत् **भवतीति विजा-नीत** ।।४०।१५।।

(अथ) और (इदम्) यह (शरीरम्) चेष्टादि का आश्रय, विनाशी शरीर (भस्मान्तम्) अन्त में भस्म होने वाला होता है, ऐसा जानो ।।४०।१५।।

भावार्थः— मनुष्यैर्यथा मृत्युसमये चित्तवृत्तिर्जायते, शरीरादात्मनः पृथग्भावश्च भवति; तथैवेदानीमपि विज्ञेयम् ।

भावार्थ—जैसे मृत्यु के समय चित्त की वृत्ति होती है; और शरीर से आत्मा का पृथक् भाव होता है; वैसी ही चित्त की वृत्ति तथा शरीर-आत्मा के सम्बन्ध को जीवनकाल में भी सब मनुष्य जानें।

एतच्छरीरस्य भस्मान्ता क्रिया कार्या; नाऽतो दहनात्परः कश्चित् संस्कारः कर्त्तव्यः ।

इस शरीर की भस्मान्त-क्रिया (अन्त्येष्टि) करनी चाहिए; इस दहन-क्रिया के पश्चात् कोई भी

संस्कार नहीं करना चाहिए ।

वर्त्तमानसमय एकस्य परमेश्वरस्यैवाऽऽज्ञापालनमुपासनं; स्वसामर्थ्यवर्द्धनञ्चैव कार्यम् ।

जीवन काल में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन, उपासना तथा अपनी शक्ति की वृद्धि करनी चाहिए ।

कृतं कर्म विफलं न भवतीति मत्वा, धर्मे रुचिरधर्मेऽप्रीतिश्च कर्त्तव्या ।।४०।१५।।

किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं होता, ऐसा मानकर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रखनी चाहिए ।।४०।१५।।

***भा० पदार्थः*—**इदम्=एतत् । ओ३म्=एकः परमेश्वरः । स्मर= आज्ञापालनमुपासनञ्च कुरु । क्लिबे=स्वसामर्थ्यवर्द्धनाय । कृतम्=कृतं कर्म ।।४०।१५।।

***भाष्यसार*—देहान्त के समय क्या करें**—कर्म करने वाला जीव देहान्त अर्थात् शरीरत्याग के समय में 'ओ३म्' नाम का स्मरण करे। अपने सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए परमात्मा को और अपने स्वरूप को स्मरण करे । जो कुछ जीवन में किया है उसको स्मरण करे ।

इस शरीर में स्थित धनञ्जय आदि नामक वायु कारण रूप सूक्ष्म वायु के और सूक्ष्म वायु नाशरहित कारण (प्रकृति) के आश्रित है । शरीर से आत्मा का पृथक्भाव उक्त वायु के आश्रित है । शरीर से आत्मा के पृथग्भाव अर्थात् मृत्यु के समय में यहां जैसी चित्तवृत्ति बतलाई है; वैसी ही चित्तवृत्ति अब जीवन-काल में भी रखे ।

देहान्त के समय इस शरीर की भस्मान्त क्रिया (अन्त्येष्टि कर्म) करें । भस्मान्त क्रिया के उपरान्त इस शरीर का कोई संस्कार-कर्तव्य शेष नहीं रहता ।

जीवन-काल में एक परमेश्वर की ही आज्ञा का पालन, उसकी उपासना और अपने सामर्थ्य की वृद्धि करें । किया हुआ कर्म विफल नहीं होता, ऐसा समझ कर धर्म में रुचि और अधर्म में अप्रीति रखें ।।१५।।

***अन्यत्र व्याख्यात*—**"भस्मान्तꣳशरीरम्" (य० ४०।१५)।। इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है (संस्कार-विधि, अन्त्येष्टिकर्म) ।।४०।१५।।

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के १७वें मन्त्र तथा यजुर्वेद के ४०।१५वें मन्त्र के उत्तरार्द्ध में निम्नलिखित पाठभेद है—

(वेद में) ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर ।।

(ईशावा०) ओ३म् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ।।

इस मन्त्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं–

(क) "ओ३म्" ऐसा कहकर यहां उपासना के अनुसार सत्यस्वरूप अग्नि संज्ञक ब्रह्म ही अभेदरूप से कहा गया है । क्योंकि 'ओम्' उसका प्रतीक है । हे क्रतो ! सङ्कल्पात्मक मन ! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है उसका स्मरण कर । अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः तू स्मरण कर ।"[१]

(ख) "और यह लिङ्ग शरीर उत्क्रमण करे ।"[२]

समीक्षा—यहां श्री शङ्कराचार्य जी ने 'ओम्' का अभिप्राय 'अग्नि' नामक ब्रह्म बतलाया है । क्या अग्नि नामक कोई विशेष ब्रह्म है, जिसको मृत्यु समय में स्मरण के लिए कहा गया है । अद्वैतवाद को मानने वालों को यह भ्रान्ति कैसे हो गई ? क्या 'अग्नि ब्रह्म' को मानकर 'अद्वैतब्रह्म' की सिद्धि सम्भव है, यदि मरते समय उनका अभिप्राय भौतिकाग्नि से है तो क्या मन्त्र में जडाग्नि को स्मरण करने के लिए कहा गया है ? और फिर अग्निब्रह्म की तरह वायु आदि महाभूत भी ब्रह्म हुए, उनको भी स्मरण करना चाहिए । अतः परब्रह्म से 'अग्नि' नामक ब्रह्म कोई भिन्न नहीं है । और न ही मन्त्र में ही 'अग्नि' का निर्देश किया है, फिर ऐसी व्याख्या मूल मन्त्र से विरुद्ध ही है ।

'ओम्' ब्रह्म का प्रतीक है, यह भी कथन सत्य नहीं । क्योंकि प्रतीक तो स्मृति-चिह्न होता है । 'ओम्' परब्रह्म का प्रतीक नहीं, अपितु उसका मुख्य निज नाम है । अतः जीवों के लिए इसी नाम का स्मरण करने का परमात्मा का उपदेश है ।

शाङ्कर-भाष्य में मन्त्र-पठित 'क्रतो' शब्द का 'सङ्कल्पात्मक मन' अर्थ किया है । मन स्मरण करने का साधन अन्तःकरण अवश्य है, किन्तु वह स्वयम् अचेतन होने से स्मरण नहीं कर सकता । स्मरण करने वाला क्रतु=जीवात्मा ही अर्थ यहां सङ्गत होता है । 'क्रतु=कर्म करने वाला' इस शब्दार्थ के अनुसार भी जीवात्मा ही अर्थ उचित है । श्री

१. "ओमिति यथोपासनम् । ओम् प्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते । हे क्रतो ! सङ्कल्पात्मक ! स्मर यन्मम स्मर्त्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर ।" (शा० भा०)

२. "लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामतु ।" (शा० भा०)

शङ्कराचार्य जी 'क्रतु' पद का जीवात्मा अर्थ कैसे करते ? उन्हें अपनी प्रतिज्ञा-हानि का भय दिखाई दे रहा था । किन्तु जब उन्होंने 'द्वा सुपर्णा सयुजा' इत्यादि स्थानों पर जीवात्मा को कर्म-फल भोक्ता माना है । कर्म करने वाला ही भोक्ता होता है तो यहां कर्म करने वाला 'मन' क्यों माना गया ? और स्वयम् उपनिषद् में अन्यत्र लिखा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि······मनः प्रग्रहमेव च ।। (कठो० ३।३)

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।। (कठो० ३।४)

अर्थात् शरीररूपी रथ का जीवात्मा स्वामी है और मन इन्द्रियरूपी घोड़ों को वश में करने के लिए प्रग्रह=लगाम के समान है । और 'मनः' को अन्तःकरण तो सभी शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है । क्या साधन स्वयं विना कर्त्ता के कार्य कर सकता है ? क्या तलवार स्वयं ही किसी को दण्ड दे सकती है ? अतः 'क्रतु' का सङ्कल्पात्मक मन अर्थ मिथ्या कल्पित ही है । और कर्मों को ज्ञान का विरोधी मानने वाले 'कृतं=जीवन में किए कार्यों को कैसे स्मरण कर सकते हैं । परन्तु मन्त्र में तो कृत कार्यों को स्मरण करने का स्पष्ट उपदेश है, उसको कैसे पृथक् करके छोड़ा जा सकता है ?

मृत्यु के समय शरीर का तो भस्म (राख) ही अन्त हो जाता है और शाङ्कर भाष्य के अनुसार भी लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म-शरीर) दूसरे जन्म में उत्क्रमण करता है । यह लिङ्ग शरीर क्या जीवात्मा के विना ही उत्क्रमण करता है । ईशावास्यो० के मन्त्र ३ की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—'त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।" अर्थात् इस शरीर को छोड़कर कर्म और ज्ञान के अनुसार शरीरान्तरों में चले जाते हैं । क्या यहां जीवात्मा से भिन्न का निर्देश है ? अतः यह लिङ्गदेह स्वयं जड़ होने से स्वयम् उत्क्रमण नहीं कर सकता । जीवात्मा ही लिङ्गदेह से आवेष्टित होकर जाता है । जीवात्मा को स्वीकार किए विना इन स्थलों की सङ्गति कदापि नहीं लग सकती । अतः शाङ्कर-भाष्य का 'क्रतु' शब्द का अर्थ सर्वथा ही परित्याज्य है ।

श्री उव्वट इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—"इदानीं योगिन आलम्बनभूतमक्षरं कथ्यते—ओम् इति नाम वा प्रतिमा वा ब्रह्मणः ।" अर्थात् अब योगी के आलम्बन भूत अक्षर का कथन किया जाता है । 'ओम्' यह नाम योगी का आलम्बन है अथवा ब्रह्म की प्रतिमा योगी का आलम्बन है।

समीक्षा—इस मन्त्र में क्रतु=आत्मा के लिए 'ओ३म्' नाम-स्मरण

का उपदेश है । श्री उव्वट ने उसे केवल योगी के लिए ही सीमित कर दिया है, यह अनुचित है और योगी के लिए 'ओ३म्' नाम के साथ मन्त्र में अकथित 'ब्रह्म की प्रतिमा' का आलम्बन बताना कल्पना ही है । प्रथम तो यह बात मन्त्र में नहीं कही, और ब्रह्म की कोई प्रतिमा नहीं होती । वेद में ब्रह्म की प्रतिमा का स्पष्टरूप से निषेध किया है—"न तस्य प्रतिमाऽस्ति ।"

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः ।।

ईश्वरः काननुगृह्णातीत्याह ।।

ईश्वर किन मनुष्यों पर कृपा करता है, यह उपदेश किया है ।

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्युस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम ऽ उक्तिं विधेम ।।१६।।

पदार्थः—**(अग्ने)** स्वप्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर ! **(नय)** गमय **(सुपथा)** धर्म्येण मार्गेण **(राये)** विज्ञानाय, धनाय, वसुसुखाय **(अस्मान्)** जीवान् **(विश्वानि)** अखिलानि **(देव)** दिव्यस्वरूप **(वयुनानि)** प्रशस्यानि प्रज्ञानानि । वयुनमिति प्रशस्यनाम।। निघं० ३।८।। प्रज्ञानामसु निघं० ३।९।। **(विद्वान्)** यः सर्वं वेत्ति सः **(युयोधि)** पृथक्कुरु **(अस्मत्)** अस्माकं सकाशात् **(जुहुराणम्)** कौटिल्यम् **(एनः)** पापाचरणम् **(भूयिष्ठाम्)** बहुतमाम् **(ते)** तुभ्यम् **(नमउक्तिम्)** सत्कारपुरःसरां प्रशंसाम् **(विधेम)** परिचरेम ।।१६।।

प्रमाणार्थ—**(वयुनानि)** प्रशस्यानि प्रज्ञानानि ! 'वयुन' यह पद निघण्टु (३।८) में प्रशस्य-नामों में पठित है—प्रशस्य=श्रेष्ठ । और 'वयुन' यही पद निघण्टु (३।९) में प्रज्ञा-नामों में भी पठित है । अतः यहां 'प्रशस्यानि प्रज्ञानानि' ऐसा अर्थ है ।।

अन्वयः—हे देवाग्ने परमेश्वर । यतो वयं ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम तस्माद्विद्वांस्त्वमस्मज्जुहुराणमेनो युयोध्यस्मान् राये सुपथा विश्वानि वयुनानि नय प्रापय ।।१६।।

सपदार्थान्वयः—**हे देव** दिव्यस्वरूप **अग्ने=परमेश्वर** स्वप्रकाशस्वरूप करुणामय जग-	***भाषार्थ***— हे (देव) दिव्यस्वरूप (अग्ने) स्वप्रकाश-स्वरूप करुणामय जगदीश्वर ! जिससे

दीश्वर ! **यतो वयं ते** तुभ्यं **भूयिष्ठां** बहुतमां **नमउक्तिं** सत्कारपुरःसरां प्रशंसां **विधेम** परिचरेम; **तस्माद्विद्वान्** यः सर्वं वेत्ति सः **त्वमस्मत्** अस्माकं सकाशात् **जुहुराणं** कौटिल्यम् **एनः** पापाचरणं **युयोधि** पृथक् कुरु । **अस्मान्** जीवान् **राये** विज्ञानाय, धनाय, वसुसुखाय **सुपथा** धर्म्येण मार्गेण **विश्वानि** अखिलानि **वयुनानि** प्रशस्यानि प्रज्ञानानि **नय**=**प्रापय** गमय ।।४०।१६।।

हम (ते) तेरे लिए (भूयिष्ठाम्) बहुत अधिक (नम उक्तिम्) सत्कारपूर्वक प्रशंसा (विधेम) करते हैं; इससे (विद्वान्) सर्वज्ञ तू (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलता और (एनः) पापाचरण को (युयोधि) दूर कर । (अस्मान्) हम जीवों को (राये) विज्ञान, धन और धन से प्राप्त होने वाले सुख की प्राप्ति के लिए (सुपथा) धर्म-पथ से (विश्वानि) सब (वयुनानि) श्रेष्ठ ज्ञान एवं श्रेष्ठ बुद्धि को (नय) प्राप्त करा ।।४०।१६।।

भावार्थः—ये सत्यभावेन परमेश्वरमुपासते, तदाज्ञां पालयन्ति; सर्वोपरि सत्कर्त्तव्यं परमात्मानं मन्यन्ते तान् दयालुरीश्वरः पापाचरण-मार्गात्पृथक्कृत्य, धर्म्यमार्गे चालयित्वा, विज्ञानं दत्त्वा, धर्मार्थकाम-मोक्षान् साद्धुं समर्थान् करोति । तस्मात् सर्वम् एकमद्वितीयमीश्वरं विहाय कस्याप्युपासनं कदाचिन्नैव कुर्य्युः।।४०।१६।।

भावार्थ—जो सच्ची भावना से परमात्मा की उपासना करते हैं; उसकी आज्ञा का पालन करते हैं तथा सब से अधिक सत्कार करने योग्य परमात्मा को मानते हैं; उनको दयालु ईश्वर पापाचरण के मार्ग से हटाकर; धर्म-मार्ग में चलाकर, उन्हें विज्ञान देकर, धर्म-अर्थ, काम-मोक्ष की सिद्धि के लिए समर्थ बना देता है । इसलिए सब मनुष्य एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़कर किसी की भी उपासना न करें ।।४०।१६।।

भा० पदार्थः—नम उक्तिम्=सत्यभावेन परमेश्वरोपासनं तदाज्ञा-पालनञ्च । विद्वान्=दयालुरीश्वरः । एनः=पापाचरणमार्गम् । युयोधि=पृथक्कुरु । सुपथा=धर्म्यमार्गेण । वयुनानि=विज्ञानानि, धमार्थकाममोक्षान् । नय=साद्धुं समर्थान् कुरु ।।४०।१६।।

भाष्यसार—**ईश्वर किन मनुष्यों पर कृपा करता है**—जो मनुष्य दिव्यस्वरूप, स्वप्रकाश-स्वरूप, करुणामय जगदीश्वर की बहुत

अधिक सत्कारपूर्वक प्रशंसा करते हैं अर्थात् सच्ची भावना से परमेश्वर की उपासना और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, सब से ऊपर सत्कार के योग्य परमात्मा को ही मानते हैं; उन पर विद्वान्, दयालु परमेश्वर बड़ी कृपा करता है । कुटिलता और पापाचरण के मार्ग से पृथक् करता है। धर्मयुक्त मार्ग में चलाकर उन्हें विज्ञान, धन और धन से प्राप्त होने वाले सुख प्रदान करता है । उन्हें श्रेष्ठ प्रज्ञान एवं श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त कराता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए उन्हें समर्थ बनाता है । अतः सब मनुष्य एक, अद्वितीय ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य की उपासना कभी न करें ।।४०।१६।।

अन्यत्र व्याख्यात—(क)—"अग्ने नय सुपथा०" (य० ४०।१६।।) हे सुख के दाता ! स्वप्रकाशस्वरूप ! सब को जानने हारे परमात्मन् ! आप हम को श्रेष्ठ मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये; और जो हम में कुटिल पापाचरण रूप मार्ग है उससे पृथक् कीजिए । इसीलिए हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत सी स्तुति करते हैं; कि आप हम को पवित्र करें । (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास)

(ख)—हे (अग्ने) स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, सब जगत् के प्रकाश करने हारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर ! आप जिससे (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्या युक्त हैं; कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिए । इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नम उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें। (संस्कारविधि, ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना)

(ग)—हे (अग्ने) स्वप्रकाशस्वरूप सब दुःखों के दाहक (देव) सब सुखों के दाता परमेश्वर ! (विद्वान्) आप (राये) योग—विज्ञान रूप धन की प्राप्ति के लिए (सुपथा) वेदोक्त धर्म-मार्ग से (अस्मान्) हम को (विश्वानि सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्मों को (नय) कृपा से प्राप्त कीजिये: और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल पक्षपात सहित (एनः) अपराध पापकर्म को (युयोधि) दूर रखिये और

इस अधर्माचरण से हम को सदा दूर रखिए, इसीलिए (ते) आप ही की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार (नम उक्तिम्) नमस्कारपूर्वक प्रशंसा को नित्य (विधेम) किया करें ।।४०।१६।। (संस्कारविधि-संन्यासाश्रमप्रकरण)

समीक्षा—ईशावास्योपनिषत् के १८वें (यजुर्वेद के ४०।१६वें) मन्त्र की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

"हे अग्ने ! मुझे सुपथ=सुन्दर मार्ग से ले चल । यहां 'सुपथा' यह विशेषण दक्षिण मार्ग की निवृत्ति के लिए है । मैं आवागमनरूप दक्षिणमार्ग से ऊब गया हूं, अतः तुझ से प्रार्थना करता हूं कि यथोक्त कर्मफल विशिष्ट हम लोगों को हमारे सम्पूर्ण कर्म अथवा प्रज्ञानों को जानने वाले हे देव ! तू राये=धन के लिए, कर्मफल भोग के निमित्त पुनः-पुनः आने जाने से रहित शुभ मार्ग से ले चल । तथा तू हम से कुटिल अर्थात् वञ्चनात्मक पापों को वियुक्त कर दे । अतः हम तेरे लिए बहुत सी नमः-उक्ति=नमस्कार वचन-विधान करते हैं ।"[१]

श्री शङ्कराचार्य जी ने लिखा है—"पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु" (ईशावास्यमिदं० मन्त्रे) अर्थात् पुत्रादि तीनों एषणाओं से रहित मनुष्य का आत्मज्ञान में अधिकार है, अग्निहोत्रादि कर्मों में अधिकार नहीं। और "निवृत्तलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम्।" (ईशावा० १५वें मन्त्रभाष्य में) अर्थात् इसके बाद निवृत्ति लक्षण वेदार्थ को अभिव्यक्त करने में इससे आगे बृहदारण्यक का उपयोग किया जाता है । इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन मन्त्रों में शङ्कराचार्य जी के मत में ज्ञानचर्चा ही होनी चाहिए । किन्तु प्रार्थना की जा रही है—राये= धन के लिए अथवा कर्मफल भोग के लिए तथा कुटिल पापाचरण को दूर करने के लिए । क्या इन में परस्पर विरोध होने से शाङ्कर-भाष्य की बात सत्य हो सकती है ? और कर्म-फल भोग की प्रार्थना से ज्ञान व

---

१. "हे अग्ने ! नय गमय सुपथा शोभनेन मार्गेण । सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम् । निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय । राये धनाय कर्मफलभोगायेत्यर्थः । अस्मान् यथोक्तधर्मफलविशिष्टान् विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान्=जानन् । किञ्च युयोधि= वियोजय विनाशय अस्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम् । भूयिष्ठां बहुतरां ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं विधेम=नमस्कारेण परिचरेम ।।"

कर्म में क्या विरोध हुआ ? यदि विरोध है तो यहां कर्म-फल भोग की प्रार्थना क्यों की जा रही है ।

और जब परब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की कोई सत्ता ही नहीं है तब प्रार्थना कौन किससे कर रहा है ? कुटिल पापाचरण से मुक्ति की कौन इच्छा कर रहा है ? आवागमनरूप दक्षिणमार्ग से विरक्ति किसे हो रही है ? कर्मों का फल कौन भोगेगा ? परब्रह्म को बार-बार नमस्कार वचन कौन बोल रहा है ? परब्रह्म किस के कर्मों व प्रज्ञानों को जानता है ? इत्यादि प्रश्नों का अद्वैतवादियों के पास क्या कोई उत्तर है ? अतः स्पष्ट है कि कर्मफल का भोक्ता पापाचरण कर्मों से युक्त, आवागमन के चक्र से दुःखी और अग्नि=परब्रह्म से प्रार्थना करने वाला जीवात्मा अवश्य ही परब्रह्म से भिन्न है ।

और शाङ्कर-भाष्य में मन्त्र-पठित 'सुपथा' को 'अदक्षिण-मार्ग' का विशेषण माना है । विशेषण के साथ विशेष्य का होना अत्यन्त आवश्यक है, ऐसा कभी नहीं होता कि विशेषण पद तो हो और विशेष्य पद का नाम भी न हो । मन्त्र में ऐसा कोई पद नहीं है, जिसका 'सुपथा' विशेषण हो । अतः 'सुपथा' पद को विशेषण मानना अशुद्ध व्याख्या है।

आत्मज्ञानी संन्यासी के लिए अग्निहोत्रादि कर्मों का अधिकार न बताना भी वेदशास्त्रविरुद्ध निर्देश है । वेद तथा ईशावास्योपनिषत् के दूसरे मन्त्र में जीवन भर कर्म करने का उपदेश दिया गया है और अद्वैतवादी इन तीन ग्रन्थों को प्रस्थानत्रयी कहते हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता । गीता में अग्निहोत्रादि कर्मों को करने के लिए संन्यासी को स्पष्ट निर्देश दिया है, त्याग का नहीं । देखिए—

(क) **सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥** गीता १८।२।।

अर्थात् सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं, कर्मों को नहीं ।

(ख) **यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।**
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ गीता १८।५।।

अर्थात् संन्यासियों को यज्ञ, दान तथा तप इन कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिए, करना ही चाहिए । क्योंकि ये तीनों कर्म मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं ।

(ग) **एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।**
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ गीता १८।६

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥ गीता १८।७।।

अर्थात् हे अर्जुन ! संन्यासियों को यज्ञ, दान तथा तप सम्बन्धी कर्मों को आसक्ति तथा फलेच्छा को छोड़कर करना चाहिए, यह मेरा निश्चित मत है । नियत कर्मों का परित्याग तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है । और मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मनिष्ठ संन्यासियों के लिए कर्म की प्रधानता बताते हुए लिखा है–

क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ (मुण्डक० ३।१।४)

अर्थात् जो ब्रह्मज्ञानियों में यज्ञादि शुभ-कर्म भी करता है, वह सब से श्रेष्ठ है । इस मन्त्र के भाष्य में श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं–"न हि बाह्यक्रियावान् आत्मक्रीड आत्मरतिश्च भवितुं शक्तः ।.....बाह्यक्रियात्म-क्रीडयोर्विरोधात् । नहि तमःप्रकाशयोर्युगपदेकत्र स्थितिः सम्भवति ।"

अर्थात् बाह्य अग्निहोत्रादि क्रिया करने वाला आत्मरत नहीं हो सकता । क्योंकि बाह्यक्रिया तथा आत्मरति में वैसा ही विरोध है, जैसा कि अन्धकार व प्रकाश में है ।

समीक्षा—यह शाङ्करभाष्य की व्याख्या स्वयं कल्पित है । मन्त्र में ऐसा कोई वर्णन नहीं है । और अग्निहोत्रादि दैनिक कर्त्तव्य मनुष्यमात्र के लिए हैं । उनमें किसी के लिए भी छूट नहीं है । इन यज्ञादि शुभ कर्मों के करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण से परमात्मा की उपासना सम्भव है । अतः इनमें परस्पर अनुसहायीभाव है, किसी प्रकार का विरोध नहीं है । जो इनमें विरोध समझते हैं, वे स्वयं भ्रान्ति में पड़े हुए हैं ।

दीर्घतमाः । ***आत्मा***=स्पष्टम् । अनुष्टुप् । गान्धारः ।

अथान्ते मनुष्यानीश्वर उपदिशति ॥

अब अन्त में मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है ।।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

पदार्थः—**(हिरणमयेन)** ज्योतिर्मयेन **(पात्रेण)** रक्षकेण **(सत्यस्य)** अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य **(अपिहितम्)** आच्छादितम् **(मुखम्)** मुखवदुत्तमाङ्गम् **(यः) (असौ) (आदित्ये)** प्राणे सूर्यमण्डले वा

(पुरुषः) पूर्णः परमात्मा **(सः) (असौ) अहम्) (ओ३म्)** योऽवति सकलं जगत्तदाख्यं **(खम्)** आकाशवद्व्यापकम् **(ब्रह्म)** सर्वेभ्यो गुणकर्म-स्वरूपतो बृहत् ।।१७।।

अन्वयः—हे मनुष्या येन हिरण्मयेन पात्रेण मया सत्यस्यापिहितं मुखं विकाश्यते, योऽसावादित्ये पुरुषोऽस्ति सोऽसावहं खम्ब्रह्मास्म्यो३मिति विजानीत ।।१७।।

सपदार्थान्वयः— **हे मनुष्याः ! येन हिरण्मयेन** ज्योतिर्मयेन **पात्रेण** रक्षकेण **मया सत्यस्य** अविनाशिनः यथार्थस्य कारणस्य **अपिहितम्** आच्छादितं **मुखं** मुखवदुत्तमाङ्गं **विकाश्यते; योऽसावादित्ये** प्राणे सूर्यमण्डले वा **पुरुषः** पूर्णः परमात्मा **अस्ति, सोऽसावहं खम्** आकाशवद्व्यापकं **ब्रह्म** सर्वेभ्यो गुणकर्मस्वरूपतो बृहत् **अस्म्यो३म्** योऽवति सकलं जगत्तदाख्यम् **इति विजानीत** ।।४०।१७।।

भाषार्थ—हे मनुष्यो ! जिस (हिरण्मयेन) ज्योति से परिपूर्ण (पात्रेण) सब के रक्षक मेरे द्वारा (सत्यस्य) कभी नष्ट न होने वाले सत्रूप कारण [प्रकृति] का (अपिहितम्) ढके हुए (मुखम्) मुख के समान उत्तम अङ्ग का विकास किया जाता है; (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) प्राण व सूर्यमण्डल में (पुरुषः) पूर्ण परमात्मा है (सः) वह (असौ) परोक्ष (अहम्) मैं—(खम्) आकाश के समान व्यापक, (ब्रह्म) गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से सब से बड़ा हूं, (ओ३म्) मैं सब जगत् का रक्षक 'ओ३म् हूं; ऐसा जानो।।४०।१७

भावार्थ—सर्वान् मनुष्यान् प्रतीश्वर उपदिशति—हे मनुष्याः ! योऽहमत्राऽस्मि, स एवाऽन्यत्र सूर्यादौ, योऽन्यत्र सूर्यादावस्मि स एवात्रास्मि; सर्वत्र परिपूर्णः, खवद् व्यापको न मत्तः किञ्चिदन्यद् बृहद्, अहमेव सर्वेभ्यो महानस्मि ।

भावार्थ—सब मनुष्यों को ईश्वर उपदेश करता है । हे मनुष्यो ! जो मैं यहां हूं, वही अन्यत्र सूर्य आदि में हूं और जो अन्यत्र सूर्यादि में हूं वही यहां हूं । मैं सर्वत्र परिपूर्ण, आकाश के समान व्यापक हूं; मुझ से कोई भी दूसरा बड़ा नहीं है, मैं ही सब से महान्=बड़ा हूं ।

मदीयं सुलक्षणपुत्रवत्प्राणप्रियं निजस्य नाम ओमिति वर्त्तते ।

सुलक्षण पुत्र के तुल्य प्राणों से प्रिय मेरा अपना नाम 'ओम्' है।

यो मम प्रेमसत्याचरणभावाभ्यां शरणं गच्छति; तस्याऽन्तर्यामि-रूपेणाऽहमविद्यां विनाश्य, तदात्मानं प्रकाश्य, शुभगुणकर्मस्वभावं कृत्वा, सत्यस्वरूपाऽऽचरणं स्थापयित्वा, शुद्धं योगजं विज्ञानं दत्त्वा, सर्वेभ्यो दुःखेभ्यः पृथक्कृत्य मोक्षसुखं प्रापया-मीत्योम् ।।४०।१७।।

जो मेरी प्रीति और सत्याचरण के भावों से शरण=भक्ति को प्राप्त करता है, तो मैं उसकी अन्तर्यामी रूप से अविद्या को विनष्ट करके, उसकी आत्मा को प्रकाशित कर, उसके शुभ गुण, कर्म, स्वभाव बनाकर, सत्य के स्वरूप का आचरण स्थापित कर, योग से उत्पन्न हुए शुद्ध विज्ञान को देकर, सब दुःखों से छुड़ाकर, मोक्ष-सुख को प्रदान करता हूं । यजुर्वेद भाष्य की समाप्ति पर अन्त में 'ओ३म्' नाम का स्मरण किया है ।।

भा० पदार्थः—आदित्ये=सूर्यादौ । पुरुषः=अहमीश्वरः । खम्=सर्वत्र परिपूर्णः सर्वव्यापकः । ब्रह्म=सर्वेभ्यो महान् । ओ३म्=सुलक्षणपुत्रवत्प्राणप्रियं नाम । सत्यस्य=सत्यस्वरूपस्य ।।

भाष्यसार—अन्त में मनुष्यों को ईश्वर का उपदेश—मैं ज्योतिर्मय, रक्षक ईश्वर—सत्य अर्थात् अविनाशी, यथार्थ, कारण (प्रकृति) के आच्छादित मुख को खोलता हूं । जो मैं यहां हूं, सो ही सूर्यादि में हूं और जो अन्यत्र सूर्यादि में हूं, सो ही यहां हूं । मैं सर्वत्र परिपूर्ण, आकाश के तुल्य व्यापक हूं । मुझ से कोई और बड़ा नहीं है । मैं ही गुण, कर्म, स्वभाव से सब से बड़ा हूं । जैसे उत्तम लक्षणों से युक्त पुत्र प्राणों के तुल्य प्रिय होता है वैसे सब से प्यारा निज नाम 'ओ३म्' है । प्रेमभाव और सत्याचरण से जो मेरी शरण में आता है मैं अन्तर्यामी रूप से उसकी अविद्या का विनाश करता हूं । उसकी आत्मा को प्रकाशित करता हूं । उसके शुभ गुण, कर्म, स्वभाव बनाता हूं । उसमें सत्यस्वरूप आचरण को स्थापित करता हूं । शुद्ध योगज विज्ञान का दान करता हूं । सब दुःखों से पृथक् करके मोक्ष-सुख प्राप्त कराता हूं । इति ओ३म् ।।४०।१७।।

अन्यत्र व्याख्यात—(क) "ओ३म् खम्ब्रह्म" ।।१।। (यजु०

४०।१७) ।। देखिये वेदों में ऐसे–ऐसे प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम हैं । (सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास)

(ख) 'ओ३म् खं ब्रह्म (यजु० अ० ४०) ।। ओमिति ब्रह्म । तैत्तिरीयारण्यके । प्र० २ । अनु० ८।। ओम् और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं । (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार)

समीक्षा—उपर्युक्त व्याख्या यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के १७वें मन्त्र की है । ईशावास्योपनिषद् में इस मन्त्र के स्थान पर निम्न दो मन्त्रों का पाठ है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।।१।।
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह,
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
यो ऽ सावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ।।२।।

वेद और उपनिषद् के मन्त्रों में पाठभेद होते हुए भी अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है । इन मन्त्रों में परमात्मा के कल्याणादि गुणों का वर्णन करके यह बताया गया है कि जो परमात्मा कल्याणकारक गुणों वाला पुरुष है, उसके गुणों को धारण करके मैं वैसा पुरुष होऊं । यहां तद्धर्मतापत्ति द्वारा उस परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुणों को प्राप्त करके परमात्मा के सदृश होने का वर्णन है । उपनिषद् में जो व्याख्यारूप अधिक मन्त्र है, उसमें भी इसी बात को और स्पष्ट करके कहा है—"यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि" अर्थात् योगी परब्रह्म के अत्यधिक सान्निध्य में होकर उसके कल्याणकारक गुणों का साक्षात्कार (अनुभव) करने लगता है । इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि जीव ब्रह्म हो जाता है । महर्षि व्यास ने इस तथ्य को समझाते हुए स्पष्ट लिखा है—"शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" ।। ब्र० सू० १।१।३० अर्थात् परब्रह्म के गुणों का लाभ करके ही वामदेवादि ऋषियों ने अपने को ब्रह्मरूप कथन किया है ।

इस मन्त्र के 'सोऽहमस्मि' वाक्य को लेकर ही अद्वैतवाद का भवन खड़ा किया गया है । किन्तु इससे उनके अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती। यह परमयोगी की उच्चतम स्थिति में परब्रह्म के गुणों को धारण करने तथा सांसारिक पदार्थों से विरक्ति में ऐसा कहा गया है । जैसे लोक में भी अपेक्षाकृत सादृश्य देखकर अतद्वस्तु में तद्वस्तु का नाम कहने

में आता है । यथार्थ में वे दोनों भिन्न-भिन्न ही होती हैं । यदि अद्वैतवाद का लेशमात्र भी भाव 'जीव-ब्रह्म की एकता' का यहां होता तो 'अग्ने नय सुपथा०' इस अगले मन्त्र में सन्मार्ग पर चलाने, पाप से निवृत्त होने तथा बार-बार नमस्कार-वचन कहने की क्या आवश्यकता थी ? और जीव-ब्रह्म की एकता होने पर कौन किससे प्रार्थना करेगा ?

और 'सोऽसावहम्' अथवा 'सोऽहमस्मि' ये वाक्य मन्त्र में वर्णित विषय से ही सम्बद्ध हैं, पृथक् नहीं हैं । मन्त्र में परमात्मा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"जो परमात्मा प्राण या सूर्यमण्डल में पुरुष (पुरि शयनात्) पूर्ण है, और जो खम्=आकाश के समान व्यापक, ब्रह्म=गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से सब से बड़ा है और ओ३म्=सब जगत् का रक्षक होने से 'ओ३म्' जिसका निज नाम है, वह असौ=परोक्ष मैं अर्थात् परब्रह्म हूं ।" यहां जीव ब्रह्म की एकता की कोई बात नहीं है । और मन्त्र के पूर्वार्द्ध में भी परब्रह्म का ही वर्णन है—"हिरण्मय=ज्योति से परिपूर्ण पात्र=सब के रक्षक परब्रह्म के द्वारा सत्यस्य मुखम्=सत्रूप कारण (प्रकृति) का मुख के सदृश मुख्य परम सूक्ष्म तत्त्वों को आच्छादित कर रक्खा है ।" अतः मायावादी अद्वैतवाद की सिद्धि इस मन्त्र से कदापि नहीं होती । प्रकरण से विरुद्ध अर्थ मूल मन्त्र से विरुद्ध ही कहलायेगा ।

श्री शङ्कराचार्य जी इस मन्त्र की व्याख्या में लिखते हैं—"जो सोने का सा हो, उसे 'हिरण्मय'[१] कहते हैं अर्थात् जो ज्योतिर्मय है, उस ढकने रूप पात्र से ही आदित्यमण्डल में स्थित सत्य=ब्रह्म का मुख-द्वार छिपा हुआ है ।"

यहां शाङ्कर-भाष्य में 'सत्य' पद का अर्थ किया है आदित्यमण्डल में स्थित ब्रह्म और उसका मुख (द्वार) ज्योतिर्मय आच्छादन (पात्र) से ढका बताया है । जो ब्रह्म 'स पर्यगात्०' मन्त्र में सर्वत्र व्यापक अकायम्=शरीररहित तथा 'अव्रणम्'=छिद्र- रहित बताया है, उसी ब्रह्म को आदित्य मण्डलस्थ बतलाना, उसका मुख बताना तथा ज्योतिर्मय ढकने से ढका हुआ कहना क्या ब्रह्म की व्यापकता को सिद्ध कर

---

(१) "हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत् । तेन पात्रेणैव अपिधानभूतेन सत्यस्यैवादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणोऽपिहितम् आच्छादितं मुखं द्वारम् ।" (शा० भा०)

सकता है ? और ज्योतिर्मय ढक्कन क्या वस्तु है ? इसका स्पष्टीकरण शाङ्कर-भाष्य में कुछ भी नहीं किया । 'ईशावास्य०' मन्त्र में जगत् के सभी चराचर पदार्थ ईश=परब्रह्म से व्यापक होने से आच्छादित बताए हैं, और यहां उसी ब्रह्म को हिरण्मय पात्र से ढका बताना क्या परस्पर विरुद्ध नहीं है ? क्या ऐसी परस्पर विरोधी व्याख्या सत्य हो सकती है ?

वास्तव में 'पात्र' 'सत्य' आदि पदों की व्याख्या शाङ्कर-भाष्य से बिल्कुल स्पष्ट नहीं होती । इनके यौगिकार्थ तथा निरुक्तादि में वर्णित अर्थों पर यदि ध्यान दिया जाता तो सत्यार्थ स्पष्ट हो सकता था । 'पात्र' का अर्थ ढक्कन केवल लौकिकार्थ की दृष्टि से ही कर दिया है । और इस पद के अस्पष्ट होने से समस्त अर्थ ही स्पष्ट न हो सका । और मन्त्र के उत्तरार्द्ध की व्याख्या भी शाङ्कर-भाष्य में बिल्कुल असङ्गत की है—

"योऽसावादित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात् पूर्णं वानेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि।"

अर्थात् जो यह आदित्य मण्डलस्थ तथा व्याहृतिरूप अङ्गों वाला पुरुष है, और जो पुरुषाकार होने से अथवा जो प्राण-बुद्धिरूप से समस्त जगत् को पूर्ण किए हुए है, जो शरीररूप पुर में शयन करने के कारण पुरुष है, वह मैं ही हूं ।

यहां सब जगत् में पूर्ण परब्रह्म, आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म और शरीरस्थ पुरुष क्या एक ही हैं, अथवा भिन्न-भिन्न ? यदि यह कथन परब्रह्मपरक ही होता, क्योंकि वह व्यापक होने से सब वस्तुओं में विद्यमान है, तब तो कुछ ठीक होता किन्तु आदित्यमण्डलस्थ आदि कहकर उसके व्यापकत्व में सन्देह ही पैदा नहीं किया, प्रत्युत शरीरस्थ और प्राण-बुद्धि आदि जिसके अधीन हैं, ये एकदेशी जीवात्मापरक बातें परब्रह्म में कदापि सङ्गत नहीं हो सकतीं । 'पुरुष' शब्द का अर्थ संसाररूप पुर=नगर में शयन=स्थित होने से परमात्मा और इस शरीररूप पुर=नगर में शयन करने से जीवात्मा भी पुरुष है । दोनों में व्यापक-व्याप्य, सेवक-सेव्य, उपासक-उपासनीयादि सम्बन्ध तो कहे जा सकते हैं, किन्तु दोनों को एक कहना मूलमन्त्रार्थ से विरुद्ध तथा मिथ्या कल्पना ही है । और शरीरस्थ प्राण व बुद्धि आदि यदि परब्रह्म के अधीन हैं तो पाप-पुण्यादि का कर्त्ता भी ब्रह्म ही होगा और फिर भोक्तृभाव से भी कैसे बच सकता है ? क्या परब्रह्म स्वयं किए हुए कर्मों का फल स्वयं

को ही देता है । अतः शरीरस्थ प्राण व बुद्धि आदि जीवात्मा के अधीन हैं, ब्रह्म के नहीं । इन मिथ्यावादी नवीन वेदान्तियों ने परब्रह्म को भी अपने समान मायाजाल में फंसाने तथा पाप-पुण्य का कर्त्ता बनाकर स्वयं को निष्क्रिय बना लिया है । और स्वयं को परब्रह्म बताकर तथा कर्त्तव्य-विमुख होकर स्वयं को पापों से ग्रस्त करते रहते हैं, और सांसारिक लोगों का कोई उपकार न करके उनके ऊपर व्यर्थ में भार बने रहते हैं । ऐसी अवैदिक मान्यताओं को मानकर वेद-विरुद्ध शिक्षाओं के प्रचार से जो आत्मघात का महान् पाप ये करते हैं, इससे क्या वे कभी मुक्त हो सकते हैं ? ईश्वरीय व्यवस्था तथा अटल नियमों के बन्धन से कोई भी प्राणी बच नहीं सकता, चाहे कोई अपने को कितना ही शाङ्करमत का अनुयायी मानकर ब्रह्म मानता रहे, किन्तु सर्वत्र व्यापक कल्याणकारी शङ्कर की त्रिशूलसम कठोर न्याय-व्यवस्था को कौन भङ्ग कर सकता है ? चाहे साधु हो, अथवा अन्य आश्रमवासी हो, ब्रह्मचारी हो या गृहस्थी, बालक हो या वृद्ध, अज्ञानी हो या ज्ञानी, प्रत्येक को अपने किए कर्मों का फल स्वयम् अवश्य ही भोगना पड़ता है संस्कृत में ठीक ही कहा है-

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।।

यहां श्री शङ्कराचार्य से भिन्न दूसरे भी सभी भाष्यकार 'पात्र' शब्द को देखकर अधिक भ्रान्त हुए हैं । 'पात्र' शब्द का 'ढक्कन' अर्थ करने पर मन्त्र के पूर्वार्द्ध के साथ उत्तरार्द्ध की कोई सङ्गति ठीक नहीं लगती। महर्षि दयानन्द ने 'पात्र' शब्द का व्याकरण के उणादिकोष के (४।१५९) सूत्रानुसार यौगिकार्थ करके मन्त्र के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध की बहुत ही अच्छी सङ्गति लगाई है । पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध के अर्थों में यदि कोई सङ्गति नहीं है तो वह अर्थ प्रकरणविरुद्ध होने से दोषपूर्ण ही कहलायेगा।

यह यजुर्वेद-चालीसवां अध्याय
महर्षि दयानन्दकृत-भाष्य सव्याख्या समाप्त ।।